ॐ

श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान

भुवनेश्वरीपीठ, बिहसड़ा, मिर्जापुर (उ0प्र0)

प्रतिष्ठान विशुध्द रूप से शिक्षा, संस्कृति एवं समाज के अभ्युदय के लिए समर्पित संस्था है। प्रतिष्ठान के कार्य-कलाप निम्नलिखित लक्ष्यों के लिए अग्रसर हो रहे हैं।

1. प्राच्य विद्या, भारतीय संस्कृति, ज्ञान के विविध अंगों पर शोध, अनुसंधान एवं स्वाध्याय, विश्व-संस्कृति , दर्शन एवं समाज के विविध पक्षों का पुरवलोकन अध्ययन एवं तत्सम्बन्धी उत्तम ग्रंथों के प्रकाशन की व्यवस्था करना।
2. विद्वानों एवं मनीषियों का सम्मान तथा विद्वद्गोष्ठी का आयोजन।
3. वेदोषनिषद्, स्मृति एवं इतिहास-पुराण के आधार पर आचार-संहिता एवं समाज-दर्शन की प्रतिष्ठा
4. प्राच्य-संस्कृति के अनुसार शिक्षा-संस्थाओं का संचालन।

प्रष्ठिान के शाखा-कार्यालय

इलाहाबाद

117सी, टैगोर टाउन, इलाहाबाद-211002

बी-38/51च-4ए, तुलसीपुर, महमूरगंज, वाराणसी

‘ समाज धर्म एवं दर्शन’ त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन इलाहाबाद शाखा कार्यालय में होता है। पत्रिका का शुल्क ‘समाज एवं दर्शन’ के नाम उक्त पते पर मनीआर्डर या चेक से भेजा जा सकता है। शुल्क इलाहाबाद के पते पर मनीआर्डर या चेक से स्वीकार किया जाता है, नकद किसी भी कार्यालय पर जमा हो सकता है।

हमारे लक्ष्य की प्राप्ति मनीषियों, आचार्यों, विद्वानों, समाज सेवकों एवं उदारमना व्यक्तियों के सहयोग से ही संभव है। एतदर्थ हम सबका स्वागत करते हैं।

ISSN 0974-9764

समाज धर्म एवं दर्शन

(अभिनिर्णित)

सम्पादक

जटा शंकर

सह सम्पादक

ऋषि कान्त पाण्डेय

वर्ष 38, अंक 1-4

अप्रैल 2020 मार्च 2021

चैत्र-फाल्गुन (संवत् 2077)

श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान का त्रैमासिक

परामर्श समिति

प्रो० डी०एन० द्विवेदी
दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
7897126113

सभाजीत मिश्र
2/24, बहार सहारा स्टेट
गोरखपुर-273008
9935302484

प्रो० हरिशंकर उपाध्याय
दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज
9415646450

प्रो० हरि शंकर प्रसाद
दर्शनशास्त्र विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली
9015778772

प्रो० गोदाबरीश मिश्र
दर्शनशास्त्र विभाग
मद्रास विश्वविद्यालय
चेन्नै, तमिलनाडु
9454873557

प्रो० कृपा शंकर
दर्शन एवं धर्म विभाग,
बी0एच0यू0
वाराणसी
99415361158

प्रो० आर0सी0 सिन्हा
201 सप्तषि अपार्टमेन्ट
राजकिशोरी काम्पलेक्स,
कंकड़बाग, पटना-20
9334305254

प्रो० गोरखनाथ मिश्र
22अभिनव हाउसिंग सोसाइटी
अल्टो पोरवार्त,
गोवा-403521
9423055013

प्रबंध सम्पादक मण्डल

डा० त्रिविक्रम तिवारी — **श्री नीरज कुमार पाण्डेय**
डा० क्षमा तिवारी — **श्री प्रभाकर पाण्डेय**

श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान

आजीवन सदस्यता शुल्क:		**Rs. 1500.00**
वार्षिक शुल्क	:	**Rs. 100.00**
प्रस्तुत अंक	:	**Rs. 50.00**

कम्पोजिंग एवं शब्द संयोजन : ऋषभ जयसवाल
मुद्रक : अमन ग्राफिक्स

लेखकों से

1. इस पत्रिका में प्रकाशित लेख, लेखक का अपना विचार है। इससे संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
2. इस पत्रिका में लेख प्रकाशित करवाने के लिए किसी प्रकार का मूल्य देय नहीं है।
3. लेखकों से निवेदन है कि हम अपने लेख को (Krutidev 10) फाण्ट में ही भेजने का कष्ट करें।
4. ई-मेल द्वारा (सॉफ्ट कॉपी) भेजे गये लेखों को वरीयता दी जायेगी।
5. एंडनोट या फुटनोट स्पष्टता से लिखें जैसे-लेखक का नाम, पुस्तक/शोध पत्रिका का नाम, प्रकाशक एवं प्रकाशन वर्ष तथा पृष्ठ संख्या अवश्य दें।
6. लेखक अपने शोध-पत्र में व्याख्या की अपेक्षा अपने तार्किक मौलिक विचार प्रस्तुत करें।
7. संक्षिप्त, स्पष्ट सारगर्भित एवं विवेकपूर्ण लेखों को प्राथमिकता दी जायेगी।
8. कोई भी लेख सम्पादकीय परामर्श समिति की आख्या के उपरान्त ही छापा जायेगा।
9. लेखों के ऊपर यदि कोई टिप्पणी या अपनी असहमति व्यक्त करना चाहते हैं, तो उसे महत्पपूर्ण होने पर अगले अंक में स्थान दिया जायेगा।
10. पुस्तक की समीक्षा भी यथास्थान प्रकाशित की जायेगी।
11. सम्पादक को यह अधिकार है कि वे अनावश्यक प्रस्तुति को संक्षिप्त कर सकें।
12. लेखक अपने लेख के साथ अपना पूरा पता, ई-मेल तथा मोबाइल नम्बर लिख दें, जिससे यह सूचित किया जा सके कि शोध-पत्र इस पत्रिका में प्रकाशनार्थ स्वीकृति है या नहीं।
13. लेखक अपने शोध-पत्र का सारांश (Abstract) अवश्य लिखें।
14. लेखक अपने शोध-पत्र में प्रयोग किए गये विशेष शब्दों का अर्थ, प्रारंभ में अवश्य लिख दें।

सम्पादक

समाज धर्म एवं दर्शन

(अभिनिर्णित)

सम्पादक
जटा शंकर

सह सम्पादक
ऋषि कान्त पाण्डेय

वर्ष 38, अंक 1-4
अप्रैल 2020 मार्च 2021
चैत्र-फाल्गुन (संवत् 2077)

श्री भुवनेश्वरी विद्या-प्रतिष्ठान का त्रैमासिक
117 सी, टैगोर टाउन, प्रयागराज-211002

अनुक्रमणिका

क्रम संख्या		पृष्ठ संख्या
1.	पद्मभूषण प्रो0पी0यन0 पट्टाभिराम शास्त्री शब्द तत्व	1–6
2.	प्रो0 सोमनाथ नेने भवभूति और मीमांसा दर्शन	7–21
3.	प्रो0 रघुनाथ गिरि उदयनाचार्य की ईश्वर सिद्धि प्रक्रिया	22–37
4.	महामहोपाध्याय डॉ0 वागीश शास्त्री देवाभाषा संस्कृत : वर्तमान उपयोगिता	38–48
5.	पं0 चन्द्रकान्त बाली, 'शास्त्री' वैदिक काल– विज्ञान	49–60
6.	डॉ0 देवसहाय त्रिवेद महाभारत युद्धकाल	61–70
7.	पद्मभूषण पण्डित बलदेव उपाध्याय आचार्य शंकर का शाक्तित्व विमर्श	71–87
8.	डॉ0 गजानन शास्त्री 'मुसलगांवकर' कश्मीर शैवदर्शन का 'त्रिक' सिद्धान्त	88–94
9.	प्रो0 कृपा शंकर युक्तिदीपिका के अनुसार तन्त्रयुक्तियों की विवेचना	95–110
10.	प्रो0 ऋषिकान्त पाण्डेय धार्मिक सहिष्णुता का आधार	111–128
11.	डॉ0 प्रभुलाल गोस्वामी , भारतीय धर्म की समन्वय दृष्टि	129–134
12.	श्री इन्द्रचन्द्र नारंग गीता की संवाद–योजना	135–151
13.	डॉ0 वंशीधर त्रिपाठी आश्रम–व्यवस्था का पुनर्मूल्यांकन	152–158
14.	डॉ0 प्रभुदयाल अग्निहोत्री तन्त्र–सिद्धान्त और साधना	159–172
15.	डॉ0 रामनारायण दास गोस्वामी तुलसीकृत रामचरित में मानस तत्व	173–178
16.	प्रो0बी0आर0 यादव / स्नेहा संस्कारो की उपादेयता : एक समीक्षात्मक विवेचन	179–189
17.	आशीष कुमार शुक्ला जल प्रदूषण समस्या एवं समाधान : एक भौगोलिक अध्ययन	190–199

संगति

प्रस्थानत्रयी

परम्परागत रूप से इस कालम का शीर्षक 'संगति' है, किन्तु प्रस्तुत अंक में आरम्भिक तीन संकल्पों का पुनर्प्रकाशन किया जा रहा है, जो इस पत्रिका और इसके उद्‌गम रूप भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान के अधिष्ठान है। ये तीन संकल्प क्रमशः आह्‌वान, उद्‌घोष और संगति नाम से समाज में चेतना जाग्रत करने के उद्देश्य से प्रकाशित किये गये थे। यह 1981–82 में प्रकाशित हुए थे और 1983 में पत्रिका का शुभारम्भ हुआ था। चूँकि तृतीय प्रस्थान बिन्दु का शीर्षक संगति है, इसलिए कालान्तर में इसे सम्पादकीय आलेख का शीर्षक बनाया गया। वेदान्त दर्शन उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्‌गीता को प्रस्थानत्रयी मानता है, हमने यह शीर्षक वहीं से प्रेरित होकर रखा है। हम इस कालम में उन्हीं तीन संकल्पों का प्रकाशन कर रहे हैं, जो पत्रिका और प्रतिष्ठान के मूल प्रयोजन को स्पष्ट कर देते हैं।

प्रथम प्रस्थान

आह्‌वान

विद्या, दर्शन, धर्म एवं सम्पूर्ण समाज के उन्नायकों (बुद्धिजीवियों) एवं समाज के प्रत्येक प्रबुद्ध सदस्य से अनुरोध है कि हम लोगों के संकल्प को पूरा करने में आशीर्वाद एवं सहयोग प्रदान करें। ''श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान'' की स्थापना के संकल्प से कार्य आरम्भ किया जा चुका है। इसका मुख्य कार्यालय भुवनेश्वरी पीठ, बिहसड़ा, मिर्जापुर है। प्रतिष्ठान के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :–

1. प्राच्य विद्या, भारतीय–संस्कृति और ज्ञान के विविध अंगों पर शोध अनुसंधान एवं स्वाध्याय तथा तत्सम्बंधी उत्तम ग्रंथों के प्रकाशन की व्यवस्था करना।
2. विश्व–संस्कृति, दर्शन एवं समाज के विविध पक्षों का पुनरावलोकन, अध्ययन एवं प्रकाशन करना।
3. विद्वानों एवं मनीषियों को सम्मानित करने तथा ज्ञान सम्बन्धी चर्चा के लिए गोष्ठियों का आयोजन करना।
4. वेद, स्मृति एवं उपनिषदों के अधार पर आचार–संहिता एवं वेदान्त दर्शन की प्रतिष्ठा करना।
5. प्राच्य संस्कृति के आदर्शों के अनुसार बालिका विद्यालय एवं उच्च शिक्षा संस्थाओं का संचालन करना।

इस कार्य के लिए हम लोगों की निष्ठा एवं कुशलता के साथ–साथ सब का बौद्धिक एवं आर्थिक सहयोग अपेक्षित है। अपेक्षित बातें प्रचुर मात्रा में वांछित हैं। अपनी तरफ से निष्ठा एवं यथासम्भव कुशलता का आश्वासन देते हुए, सबसे अनुरोध है कि यथासम्भव बौद्धिक एवं आर्थिक सहायता प्रदान करें।

दिनांक 13–10–81

द्वितीय प्रस्थान

उद्‌घोष

श्री भुवनेश्वरी विद्या–प्रतिष्ठान
भुवनेश्वरी पीठ, बिहसड़ा–मिर्जापुर
(उत्तर प्रदेश)

मान्यवर,

आप तथा आप जैसे सभी प्रबुद्ध एवं सक्षम व्यक्तियों से सम्पर्क करने की आवश्यकता का अनुभव करते हुए, इस पत्र के माध्यम से अपने विचार एवं अनुरोध प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा हूँ।

अपने देश में आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं सामाजिक अव्यवस्थाएँ व्याप्त हैं। समाज के अधिकांश लोग तथा लगभग सारी संस्थाएँ दिशाहीनता एवं अनाचार की ओर बढ़ती जा रही हैं। इस स्थिति पर नियन्त्रण न कर पाने का दोष बुद्धि–जीवियों के ऊपर है, जो स्वयं संग्रह एवं विविध अज्ञान में पड़े हैं।

राजनैतिक स्वतंत्रता, जो बहुत तपस्या से प्राप्त हुई, का उद्देश्य वर्तमान स्थिति पैदा करना बिलकुल नहीं था। स्वतंत्रता लेना एक विशेष तरह का कार्य था। शासन एवं समाज को ठीक दिशा देना एकदम भिन्न कोटि का कार्य है। समाज की आत्मा को पहचाने बिना उसका सही हित नहीं किया जा सकता है। आजकल जो भी समस्याएं हैं, सभी आकलन की त्रुटि से हैं। छुआछूत, जाति–भेद, जनसंख्या, गरीब–अमीर, प्रान्तीयता आदि की समस्याओं के मूल में कारण है–व्यक्ति एव समुदाय में सम्यक् आचरण एवं श्रद्‌धा का अभाव; यह धर्म

व संस्कृति के विकारग्रस्त होने से उत्पन्न दुर्गुण हैं। हर व्यक्ति अपने को सर्वोच्च समझने लगा है, इसी बात का प्रोत्साहन मिल रहा है, अतः सही ज्ञान पाने का अवसर नहीं है। इसे दूर करना पड़ेगा। विभिन्न संस्थायें इस स्थिति पर काबू पाने का प्रयास करती हैं, किन्तु वे स्वयं इन्हीं दुर्गुणों से आक्रान्त हो जाती हैं। इस कार्य को करने के लिए त्याग–तपस्या व ज्ञान युक्त ब्राह्मणों (बुद्धिजीवियों) की आवश्यकता है। श्रेय के साथ प्रेय सदैव नहीं चल सकता है। आचार–पालन के लिए कट्टरता आवश्यक है। यह आचार अपने प्राचीन संस्कृति के आधार पर ही संभव है।

प्राचीन के साथ नवीन का सामंजस्य करना संभव है। विज्ञान–धर्म व दर्शन का विरोधी नहीं, पोषक हो सकता है। हिन्दू समाज में इधर लगभग एक हजार वर्षों में जितनी विकृति आई, उतनी बौद्धों के समय में भी नहीं आई थी। एक हजार वर्ष का इतिहास बड़ा अन्धकार पूर्ण हैं। कुछ तो राजनैतिक परतंत्रता ने संस्कृति को विकृत किया। ज्ञान पर पर्दा डालकर अज्ञान की प्रतिष्ठा खूब हुई। बौद्ध वेद–विरोधी थे। इसलिए उनसे लोग सजग रहे और अस्वीकार किया किन्तु वेद को मानने वालों ने जब अनर्थ किया तो समाज का विकृत होना स्वाभाविक हो गया। बौद्ध–जैन धर्मों के पूर्व भी वेदोपनिषद् से भिन्न मान्यता वाले धर्म नारायणीय, सात्वत आदि अपने देश में पैदा हुए थे। इन सबके द्वारा फैलाया गया अज्ञान भगवत्पाद शंकर ने एक बार अपने ज्ञान–प्रकाश से नष्ट कर दिया था। वह प्रकाश अब भी हमारा मार्ग दर्शक बन सकता है।

अर्वाचीन इतिहास में भी कुछ सूझ–बूझ के महा–पुरुष हुए, किन्तु परिस्थितियों की विपरीतता के कारण (विशेष तौर से पराधीनता के कारण) वे अपनी बातें नहीं समझा पाए और काल–प्रवाह में विलीन हो गए। भारतीयता को लोकमान्य तिलक ने बहुत कुछ पहचाना, किन्तु लोकमान्यता केवल उनके नाम के आगे रह गई, लोक में नहीं व्याप्त हुई। भारतीय संस्कृति को समझने और तदनुसार सामाजिक उत्थान के लिए अपनी विस्मृत मान्यताओं को प्रकाशित करने की आवश्यकता है। यह कार्य विश्व–बन्धुत्व तक में सहायक होगा। इस समय, स्वतंत्र देश में, यह कल्पना संभव है ।

अर्थ, धर्म, काम व मोक्ष को यथा स्थान प्रतिष्ठित करने, धर्म का रहस्य, त्याग की महिमा व जीवन का उद्देश्य समझाने, विकासोन्मुख समाज के लिए उच्चकोटि के साहित्य, दर्शन एवं दिशानिर्देशन प्रदान करने, व्यक्ति की उन्नति को ध्यान में रख कर आदर्श समाजवाद (वेदान्ती–समाजवाद) की व्यवस्था का साहित्य प्रकाशित करने एवं विज्ञान, धर्म तथा दर्शन को एक दूसरे का पूरक समझने वाले बुद्धिजीवी पैदा करने के लिए श्री भुवनेश्वरी विद्या–प्रतिष्ठान की स्थापना का संकल्प लिया गया है ।

इस कार्य में विद्वानों, समाज–सेवियों, धनिकवर्ग, कार्यकताओं तथा शासन की बहुत अधिक सहायता वांछित होगी। आचार.को परमधर्म मानने वाले लोग ही इस संस्था के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे। ऐसे लोगों की सहायता दिलाने तथा अपनी ओर से आशीर्वाद प्रदान करने के लिए आपसे अनुरोध है।

अपनी सम्मति एवं सहायता भेजने की कृपा करें।

तृतीय प्रस्थान

श्री भुवनेश्वरी विद्या–प्रतिष्ठान

भुवनेश्वरी पीठ, बिहसड़ा, मिर्जापुर (उ0प्र0)

संगति

प्रस्तुत लेख विज्ञान, धर्म व दर्शन में सामन्जस्य, जीवन का उद्देश्य व पुरुषार्थों का स्वरूप, व्यक्ति, समाज व शासन के सम्बन्ध तथा परस्पर उपयोगिता–जैसे विषयों को, शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टिकोणों के समन्वय के साथ, अति संक्षेप में स्पष्ट करने की नीयत से लिखा जा रहा है। लोक–कल्याण के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा जा सकता है, सब लिखा जा चुका है। आर्ष ग्रन्थ इसके लिये पर्याप्त है। अनूठी बात किसी के पास नहीं है, लिखने का ढंग नया हो सकता है। हाँ अनूठी बात के मोह में लोक–विनाशक बातों, जिनको ऋषियों ने गर्हित बताया है, को हितकर बताने वाले कितने तथाकथित विचारक अवश्य पैदा हो गये हैं, जो संभोग से ही समाधि तक पहुँचाने का दावा करते है। मनीषियों की बातों को दुहराने की आवश्यकता, समय–प्रवाह के कारण व उपयोगिता के आधार पर सिद्ध है। बड़े लोगों ने ऐसा किया है, अतः इस समय हमारा भी यह कार्य संगत है।

वृक्ष को देखकर बीज का स्मरण शायद ही कोई करे। कितने अज्ञानी तो बीज देखकर यह अन्दाज नहीं कर पाते, कि इसी से बहुत बड़ा वृक्ष तैयार हो सकता है। नए और पुराने दोनों रूपों के समन्वय का कार्य भ्रम दूर करता है। कवि कालिदास के ''पुराणमित्येव न साधु सर्व, न चापि सर्व नवमित्यवद्यम''

लिखते समय जो स्थिति थी, अब उसकी विपरीत स्थिति है। अब लिखा जायगा–''नवीनमित्येव न साधु सर्व, सर्व पुराणमितिनानवद्यम्।'' कहने का मतलब है एक समय था जब लोग प्राचीनता में विश्वसनीयता और आदर का भाव रखते थे, अब प्राचीनता अनादर का पात्र है। विश्वासों में यह परिवर्तन क्यों ? कारण है–जीवन के मूल्यों का परिवर्तन। परिवर्तन हितकर रहा या नहीं यह इस समय जीने वाला हर व्यक्ति समझ सकता है। तो क्या पुराने मूल्यों को पुनः मान्यता न दी जाय ? लोक और वेद जिन बातों के साक्षी हैं, उन्हें हम झुठला कर कब तक सुखी रहेंगे ? इस समय यह सब विचारणीय हैं।

यह विज्ञान का युग माना जाता है। विज्ञान ने मानव समाज को नये मूल्य प्रदान किया है। मानव समाज ने भौतिक विज्ञान में बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली है, किन्तु विज्ञान (नवीनता) कोई बाज पक्षी नहीं है, जो इस समय लवापक्षी (प्राचीनता) के समूह पर कूद पड़ा हो। विज्ञान की उन्नति के लिए मानव समाज ने पूर्वानुभवों का ही सहारा लिया है। विज्ञान समाज के सुख–शान्ति व सम्पन्नता के लिए समझा जाता है। यही कार्य धर्म का भी है। धर्म से ही विज्ञान निकला है। अरस्तू के समय से अब तक की वैज्ञानिक प्रगति पर ध्यान दें, तो स्पष्ट है कि पुरानी मान्यताएं कटती और नई बनती रही है। न्यूटन, आइन्स्टीन आदि की भी मान्यताएं कट गई, किन्तु विज्ञान का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। इसी तरह धर्म की कोई मान्यता कटती है, तो भी धर्म का प्रभाव बढ़ना ही चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। धर्म में प्रगति न होना समाज के अधःपतन का कारण है। विज्ञान और धर्म में असामन्जस्य समझने वाले विज्ञान का उपयोग नहीं जानते और धर्म से कोसों दूर हैं। धर्म समाज को धारण करता है। धर्म की त्वरित गति है। सापेक्ष्यवाद का सिद्धान्त धर्म के विषय में सही है। धर्म अद्यतन परिस्थितियों के अनुसार नही है, तो वह समाज को धारण नही कर सकेगा और अशान्ति उत्पन्न हो जायगी। धारण करने का अर्थ है सुख, शान्ति एवं समृद्धि कायम रखना। विज्ञान से समृद्धि मिल सकती है, किन्तु सुख व शान्ति धर्म के अधीन हैं। इस समय धर्म, विज्ञान की शक्ति की सहायता से, समाज को धारण कर सकता है।

धर्म क्या है ? यह विषय संक्षेप में नहीं बताया जा सकता है। धर्म के विषय में तमाम शास्त्र उपलब्ध हैं, शास्त्रों से ही धर्म को ग्रहण करना उचित है। लेकिन शास्त्रों की आड़ में लोगों ने मनमाना धर्म बना डाला और असंख्य धार्मिक सम्प्रदाय तैयार हो गए है। धर्म में रुचि रखने वालों की भी मति भ्रम में है कि सही क्या माने। प्रचार गलत का अधिक होता है, इसलिए कि वह मनोरंजक होता है। अतः अधिकांश लोग धर्म के नाम पर पथ–भ्रष्ट हो रहे हैं । लेकिन इसका निदान है।

धर्म अपने आप नहीं प्रगट हो गया। परमेष्ठी ने ऋषियों के माध्यम से ज्ञान को अवतरित किया। ऋषियों ने दर्शन प्रदान किया और उसके आधार पर धार्मिक नियम बनाए गए। इस तरह धर्म को सही समझने के लिए दर्शन को समझना पड़ेगा। अज्ञानियों ने दर्शन से स्वतंत्र धर्म बनाकर समाज को विनाश के कगार तक पहुँचा दिया है। बड़े–बड़े धार्मिक सम्प्रदाय हैं, जिनके पास दर्शन है ही नहीं, और है भी तो अनेकधा कटा हुआ। दुराग्रहवश लोग न दर्शन समझते हैं, न तो धर्म का संशोधन करते हैं। लेकिन यह कार्य, समाज की स्थिति के लिए, किसी कीमत पर करना चाहिए।

विज्ञान की उन्नति के साथ सत् कार्य का ह्रास होता जा रहा है। इसमें विज्ञान की कोई कमी नहीं है। वैज्ञानिक उन्नति और अधिक वांछित है, किन्तु विज्ञान निरपेक्ष सत् नहीं है। विज्ञान पर धर्म का नियत्रण होना चाहिए। धर्म पर दर्शन का नियंत्रण होता है। दर्शन ऋषियों की देन है। दर्शन में भी सब कुछ लिखा जा चुका है। नए की खोज करना अनर्थकारी ही है। नए की खोज का क्षेत्र केवल विज्ञान में अवशिष्ट है। विज्ञान (भौतिक) जिन पदार्थों पर आधारित है, उन सबका स्थान दर्शन के क्षेत्र में नगण्य हैं। भौतिक पदार्थों में ही विज्ञान की खोज सम्भव है। आधिदैविक व अध्यात्मिक क्षेत्र भौतिक विज्ञान के नहीं, अपितु दर्शन शास्त्र के विषय हैं। शेष दोनों क्षेत्रों की तुलना में आधिभौतिक विज्ञान का क्षेत्र नगण्य है। इसीलिए बडे–बडे वैज्ञानिकों ने स्वयं को ज्ञान के क्षेत्र में समुद्र के किनारे शंख व घोंघे उठाते हुए पाया। ज्ञान का अपार क्षेत्र उनके सामने रह जाता है। यही कारण है कि वे अधिभौतिक विज्ञान को हेय समझ कर दार्शनिक हो गए। आइन्स्टीन समस्त दृश्य जगत को $E=mc^2$ के सूत्र से ''शक्ति के क्षेत्र'' में परिणत करके दर्शन के एकत्व तक पहुँचे। विज्ञान ने धर्म सम्बन्धी रूढ़ बातों को गलत साबित किया है, किन्तु दर्शन ''विशेष तौर पर अध्यात्मिक उत्तर मीमाँसा'' का सब जगह पोषण किया है । विज्ञान की उन्नति से वेदान्त दर्शन की मान्यता बढ़ी है। वैज्ञानिक अध्ययन से दर्शन की उपयोगिता और उसकी ऊँचाई का अन्दाज लगता है।

इस तरह विज्ञान सैन्यशक्ति है, धर्म मन्त्री एवं दर्शन राजा है। मन्त्र में ही शक्ति और राज्य गुप्त रहते हैं। इस तरह धर्म से ही विज्ञान व दर्शन सुरक्षित हैं। धर्म महान है। समाज की उन्नति के लिए तीनों का होना आवश्यक है। जिस रूढ़ि–ग्रस्त समाज में धर्म एवं दर्शन का आदान–प्रदान, विकास तथा प्रचार बन्द हो चला है, वहां विज्ञान भी निरर्थक है। विज्ञान, बिना धर्म एवं दर्शन के, पिण्डारियों को तरह आतंक उपस्थित कर सकता है, यही स्थिति देखी जा रही है। इस पर काबू पाने का प्रयास सद्यः अपेक्षित है।

कर्म से निष्ठा, निष्ठा से श्रद्धा, श्रद्धा से मति, मति से विज्ञान विज्ञान से सत्–परमार्थ प्रकाश, सत् से आनन्द प्राप्ति बताया गया है। 'आनन्द' ही अभीष्ट है। कर्म करने में आनन्द ही उद्देश्य होता है। यह सिद्धान्त पाश्चात्य सुखवाद से मिलता जुलता होने पर भी उससे अधिक, भूमा (निरतिशय) तक पहुँचता है। सुख की अवधि होने पर दुःख उसमें समाविष्ट रहता है। निरवधि सुख अभीष्ट है। निरवधि सुख का स्वरूप एवं प्राप्ति मार्ग न जानने के कारण सावधि एवं क्षणिक सुखों के पीछे दौड़ते हुए लोग अमृत के इच्छुक होकर भी विष का सेवन कर रहे है। सुख तो थोड़ा मिला या नहीं अपार दुःखों (अविद्या) में ही फंसे जा रहे है। निष्काम कर्म कहीं नहीं देखा गया है। कर्म सकाम ही होते है। लोक संग्रह के कार्य भी जिन्हें निष्काम कहते है, सुखार्थ ही होते है। इन्द्रिय, मन व बुद्धि के सुख कर्मों से प्राप्त होते है। निष्काम कर्म से मन व बुद्धि को प्रसाद प्राप्त होता हैं। आत्मा का सुख जो अपार एवं अनन्त होता है, सभी कर्मों के त्याग में निहित है। चतुर्थाश्रमी इसी सुख की खोज में सर्वस्व त्याग कर सन्यस्त होता है। चतुर्थाश्रम के लिए यही उचित है।

जीवन का उद्देश्य आनन्द प्राप्ति है। विरला ही इस अनन्त सुख का भागी होता है। धर्म, अर्थ और काम यह इस लोक के लिए पुरुषार्थ है। धर्म स्वयं में सात्विक सुख का साधन है। धर्म के नियंत्रण में ही अर्थ और काम भी सुखकारी होते है। अर्थ और काम से प्राप्य सुख में दुःख मिलने का अवसर बहुत संभावित है। समाज में अर्थ व काम के पीछे पागलपन, इसमें अन्धानुरक्त लोगों की दुर्गति, अन्त समय हारे जुआरी या श्रान्त भारवाहक की तरह विक्षिप्त लोगों को देखकर अर्थ व काम में प्राप्य सुखों की हेयता समझदार व्यक्ति को स्पष्ट हो जाती है। लेकिन यही अर्थ व काम जब धर्म से नियंत्रित होते हैं, तो इस लोक को सुखी बनाते हैं, तथा प्रेत्य जीवन के लिए आशा दिलाते हैं। आशा में भी सुख होता है। जीवन का उद्देश्य स्थाई सुख या सुख की आशा की स्थिति पैदा करना है। शिक्षा, बुद्धि, विवेक, धर्म, आचार आदि जीवन को सार्थक बनाने में सहायक होते हैं। इनसे इहलोक में सुख की सम्भावना बढ़ जाती है और अगले जन्म में श्रेष्ठतर होने का अवसर मिलता है।

स्वाभिमान, निर्भयता, सत्य, दया, मुदिता, त्याग, परोपकार आदि गुण जिसमें नहीं है, और अपने को धर्मानुयायी कहता है, तो वह ढोंगी या अज्ञानी है। भय संसार के सभी कार्यों का नियंत्रक है। जो धर्म से डरता है, वह सब जगह निर्भय रहता है, नहीं तो उसे कहीं निरापद नहीं हैं। जो धर्म निर्भयता, स्वाभिमान आदि उपर्युक्त गुणों को पैदा करें, समाज को उन्नति दे वही वास्तविक धर्म है। अपनी कुण्ठा और कामैषणा को धर्म का चोंगा पहनाकर समाज को पथभ्रष्ट करने वाले तथाकथित धर्म गुरूओं को धर्म का शत्रु समझना चाहिए। चाहे कितना ही लब्ध प्रतिष्ठ विचारक हो या समाज का नेता, यदि उसका धर्म उपयुक्त परीक्षा में दर्शन एवं व्यवहार दोनों दृष्टियों से सफल नहीं है, तो वह त्याज्य हैं। संसार के समस्त धर्माबलाम्बियों को इस दृष्टि से विचार करना चाहिए।

इहलोक के अलावा भी लोक हैं, जिनमें सुख–दुःख लगा रहता है, मोक्ष परम पुरुषार्थ है, कर्म का फल अवश्य मिलता है, शान्ति भोग में नहीं. त्याग में निहित है। इस तरह की बातों को समझने और मानने के लिए उच्च संस्कार की आवश्यकता होती है। ''यथा कर्म यथाश्रुत'' जीव जन्म लेता रहता है। श्रद्धा ही पुरुष का स्वरूप है। जिसकी जैसी श्रद्धा उसे वैसा ही कहा जाता है। इन्द्रियातीत विषयों में, शास्त्रों के आधार पर जिसको श्रद्धा हो जाती है, वह सात्विक पुरूष उर्ध्वगामी होता है। शास्त्रों में अश्रद्धा पैदा करना एवं शास्त्र के नाम पर कुण्ठा एव काम को प्रस्तुत करने वाले विष–काव्यों का पर्दाफाश करना समाज के हित में होगा। शास्त्रों को अधूरा और गलत अनुवाद के साथ प्रकाशित करने वाले अनधिकारी व लोभी लोगों पर नियंत्रण आवश्यक है।

नीति, धर्म व दर्शन के विषयों पर प्राप्य प्राचीन शास्त्रों को शुद्ध रूप में, जन सामान्य को सुलभ कराना, स्वाभिमान और निर्भयता के साथ धर्म पालन पर अडिग रहने की प्रेरणा देने वाले काव्यों का सृजन, मनोरंजन के अधम तरीकों–बाजारू साहित्य आदि दुर्व्यसनों से छुड़ाकर काव्य–शास्त्र चर्चा एवं जीवन के उच्च मूल्यों की प्राप्ति को श्रेयष्कर प्रतिपादित करना इस तरह के कार्य

समाज सुधार के निमित्त सार्थक होंगे। इनसे ही समाज की तमाम समस्याओं का अन्त संभव है।

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। यदि समाज में व्यक्ति के उत्थान का रास्ता ही न रहे, तो व्यक्ति उसमें नहीं रहना चाहेगा। अच्छा समाज वही है जिसमें व्यक्ति को उन्नति के लिए सुविधा और स्वतंत्रता हो। अर्थ और काम की उन्नति में नियंत्रण होना इसलिए आवश्यक है कि एक दूसरे का टकराव न हो किन्तु उच्च पुरूषार्थ के साधन में असुविधा व्यक्ति सहन नहीं कर सकता है। क्या ऐसा भी सामाजिक या राजकीय नियम मान्य हो सकता है, जो धर्म भूत बातों को गैर कानूनी और अधार्मिक बातों को कानूनी मानने को बाध्य करें ? क्या ऐसा भी समाजवाद मान्य है, जिसमे हर व्यक्ति पांच फीट का हो? हाँ यदि कोई दूसरे के कंधे पर चढ़कर बड़ा बनता है, तो उसे रोका जाय। समाज या शासन व्यक्ति के हित के लिए हैं। अगर ये अनुकूल नहीं है, तो आत्मरक्षा के लिए पृथ्वी का त्याग भी श्रेयष्कर बताया गया है।

समाज व्यक्तियों और समुदायों का समुदाय है। शासन समाज में शान्ति और सुरक्षा के लिए होता है। शासन को समाज स्वीकार करता है। शासन पर समाज का पूरा नियंत्रण होना चाहिए। समाज का मार्ग दर्शन त्यागी, बुद्धिजीवियों के द्वारा होता है। मार्ग दर्शक लोग अत्यल्प मात्रा में होते हैं, लेकिन सत्य के सहारे होने के कारण बहुमान्य होते हैं। शासन से मनीषियों का अत्यधिक सम्मान या तिरस्कार, दो में से एक ही मिलता है। जहाँ मनीषी पूज्य हैं, वहीं सुशासन है। लोभ आदि के द्वारा या भयवश बुद्धिजीवियों के कर्तव्यच्युत हो जाने पर समाज के लिए कोई रक्षक नहीं बचता है। सत्ता में दुर्विकार अवश्यम्भावी है। भय से सब अपने स्थान पर निर्दोष रहते है। समाज को धर्म का भय होना चाहिये। धर्म से डरने वाला समाज ही मनीषियों के पीछे चलकर शासन को भी सुधारता है। सुशासन से न डरने वाला समाज देखा नहीं गया। कुशासन से डरने वाला समाज मनीषियों को ठुकरा कर विपत्ति ग्रस्त होता है। अन्याय का सहना आत्महत्या है, किन्तु न्याय को न मानना पाप है। न्याय की स्थापना धर्म से ही संभव है। शक्ति व न्याय का संयोग समाज के लिए अभीष्ट है। शासन से यही अपेक्षित है।

व्यक्ति और समाज की उन्नति के लिए धर्म, धर्म के अभ्युदय के लिए शक्ति, धर्म के ज्ञान के लिए शास्त्र एवं मनीषी, मनीषी बनने के लिए त्याग व तपस्या और इसी से शक्ति का उद्‌भव यह बाते सर्वमान्य होनी चाहिए। धर्म, शास्त्र, शक्ति, मनीषी, त्याग, तपस्या आदि का सही स्वरूप समझाना इस समय एक कठिन कार्य है। इन विषयों के तत्व ज्ञानियों को ढूंढना और समझने वाले लोगों को, दर्शन व उच्च साहित्य के माध्यम से, पैदा करना, श्री भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान का उद्देश्य है ।

जटाशंकर तिवारी
मंत्री
श्री भुवनेश्वरी विद्या–प्रतिष्ठान
भुवनेश्वरी पीठ, बिहसड़ा, मिर्जापुर

शब्द तत्त्व

पद्मभूषण प्रो० पी० यन० पट्टाभिराम शास्त्री

भारत में पिछले सौ वर्षों में राजनीतिक परिवर्तन बड़ी तेज गति से हुये हैं। स्वतन्त्रता आन्दोलन ने छात्रों में जो आन्दोलनात्मक चेतना एवं प्रवृत्ति भर दी, उसने स्वतन्त्रता प्राप्ति तक तो अच्छी भूमिका निभाई, किन्तु उसके पश्चात् छात्र–ऊर्जा का प्रयोग छिछले स्वार्थी राजनीतिज्ञों के कारण निर्माण के बजाय विघटन की ओर हो गया है। आजकल शिक्षा संस्थाओं और विशेषतः महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों की दुःस्थिति को कौन नहीं जानता। संस्कृत शिक्षा–संस्थान तथा संस्कृत विश्वविद्यालय भी इस दौड़ में पीछे नहीं हैं। प्रायः ऐसा समझा–समझाया जाता है कि संस्कृत भाषा विनय, शिष्टता व अन्य मानव मूल्यों की शिक्षा प्रदान करती है। मनुष्य के कु–संस्कारों को सुधार–सँवार कर उसमें अच्छे संस्कारों को पैदा करती है। परन्तु वर्तमान समय में संस्कृत विश्वविद्यालयों में छात्र असन्तोष एवं उससे जुड़े आन्दोलन जिस वीभत्सता को प्राप्त हो गये हैं, उससे सस्कृत भाषा में संस्कार सुधार करने की क्षमता पर प्रश्न–चिन्ह लग गया है। अगर संस्कृत–शिक्षा के होते हुये भी छात्रों की रीति–नीति में कोई आत्मनियन्त्रण नहीं दिखाई पड़ता, तो अब संस्कृत पढ़ने की आवश्यकता ही क्या होगी ? आाज पूरा संस्कृत जगत् इस बात से चिन्तित है कि केन्द्रीय सरकार ने नई शिक्षा नीति में संस्कृत भाषा की शिक्षा को उचित सम्मान नहीं दिया है। पूरे देश के पाठ्य–क्रम में एकरूपता लाने के प्रयास में स्वीकृत त्रिभाषा फार्मूले ने विद्यालयों में संस्कृत शिक्षण के अवसर लगभग समाप्त. कर दिये हैं। ऐसी स्थिति में सभी संस्कृतज्ञों द्वारा संस्कृत के गिरते मूल्य पर चिन्तित, आन्दोलित होना अत्यन्त स्वाभाविक है। परन्तु आज के संस्कृत विश्वविद्यालयों में छात्रों की दुःस्थिति को देख करकौन ईमानदार व समझदार व्यक्ति संस्कृत के उन्नयन की बात करने का साहस करेगा। तब क्या संस्कृत भाषा का लोप हो जाने दिया जाय ? आवश्यकता है कि संस्कृत विश्वविद्यालयों सहित सभी शिक्षा–संस्थाओं की छात्र राजनीति पर नये सिरे से चिन्तन किया जाय और वर्तमान परिप्रेक्ष्य में संस्कृत भाषा की अवश्याध्येयता का मूल्याङ्कन किया जाय ।

मानव–धर्म एवं कर्त्तव्य के उपदेश मूल रूप से वेद और वेद मूलक स्मृतियां हैं। इनके द्वारा प्रतिपादित धर्मों में से राजधर्म अन्यतम है।

'राजानभिसिञ्चति' इस विधिवाक्य से राज्याभिषेक का विधान किया गया है। अभिषिक्त राजा प्रजापालन कर्मपरायण होता था। 'राजानम्' पद का अर्थ 'राज्यकर्ता' राजा होगा या 'राजकर्म' राजा होगा ? यदि प्रथम अर्थ स्वीकार करें तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र सभी राजा हो सकते है, जबकि दूसरे विकल्प के अनुसार प्रजापालन परक क्षत्रिय ही राजा हो सकते है। यह स्पष्ट है राजत्व विशिष्टता का कुछ अंश क्षत्रिय में अभिषेक के पूर्व ही होता है क्योंकि अभिषेक का अधिकारी वही है जिसमें राजत्व अभिषेक के पूर्व से ही वर्तमान है। महर्षि जैमिनि ने अवेष्ट्यधिकरण में 'राजन्' शब्द को क्षत्रियवाची सिद्ध किया है। वर्तमान काल में शासक वर्ग की स्थिति एवं राजनीतिक दशायें प्राक्तन काल की दशाओं से सर्वथा भिन्न हैं। पहले चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिये चातुर्वण्य एवं आश्रम धर्म के पालन के प्रति जागरूकता थी। परन्तु वर्तमान काल में धर्म पुरुषार्थ तथा मोक्ष पुरुषार्थ की पूर्णतः उपेक्षा हो गयी है और अर्थ तथा काम पुरुषार्थ ही सार्थक और मूल्यवान समझे जा रहे हैं। इस सबका कारण है वर्तमान शासन पद्धति। हमारे नेताओं–तिलक गान्धी, मालवीय प्रभृति ने देशवासियों को परतन्त्रता के दुख से छुटकारा दिलाने का सार्थक उद्योग किया। परतन्त्रता में कभी भी सुखानुभूति सम्भव नहीं है, इसलिये उन्होंने 'कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम्' को सिद्धान्त वाक्य बनाकर देशवासियों को दुख से छुटकारा दिलाने के लिये अहिंसा नामक अद्भुत अस्त्र के प्रयोग से देश को स्वतन्त्र बनाया। हमारे नेताओं का यह उद्देश्य कदापि नहीं था कि हम विदेशी राज्यशक्ति को हटा कर स्वयं सत्ता हस्तगत कर लें। इसलिये शासन की बागडोर लोक के हाथ में आ गयी। हमारे नेतागण वर्णाश्रम धर्म पालन में प्रमाद नहीं करते थे। पं0 मालवीय जी लोगों को वेद–पुराण और स्मृतियों के अध्ययन और उसके अनुसार आचरण एवं प्रचार करने को प्रेरित, प्रवर्तित करते थे। संस्कृ त भाषा एवं उसके प्रचार–प्रसार के प्रति उनमें बड़ा आदरभाव था । संस्कृत भारत की ही नहीं विश्व की प्राचीनतम् भाषा है और इस भाषा में विशाल साहित्य लिखा गया। यह भाषा लोगों का सर्वाधिक . कल्याण करने में समर्थ थी।

आज हम स्वतन्त्र हैं। हमारा अपना शासनतंत्र है। फिर भी अपनी हीन स्थिति के लिये हम भारतीय आज बहुत दुःखी है । हमारी वर्तनान दुःस्थिति का कारण क्या है ? एक प्रसिद्ध श्लोक हमारी वर्तमान दुश्चिन्ता को परिलक्षित करता है–

नो धर्माय वयं न तत्र निरताः नार्थाय येनेदृशाः,
कामोऽत्यर्थवतां तदर्थमपि नो मोक्षः क्वचित् कस्यचित्।
तत्केनात्र वयं वृथैव घटिताः, ज्ञातं पुनः कारणम्,
जीवन्तोऽपि मृता इति प्रवदतां शब्दार्थ संसिद्धये।।

आज के अपने लोकतन्त्र में हम सब अपने को शासक मानने लगे हैं। सबके शासक होने पर शासित कौन होगा ? इस प्रकार हम सब शासन सूत्र प्राप्त करने के लिये अन्तर्कलह से युक्त रहते हैं । ऐसा करते हुये हम सब उस परमपिता का अपमान भी करते हैं. जो एक मात्र शासक है और समूचा विश्व जिसका शास्य है। परोक्ष में हम सब ईश्वर से उसका ईश्वरत्व छीनने का प्रयत्न करते हैं। हमारे संविधान निर्माताओं और नेताओं ने प्रजातन्त्र की स्थापना सबको सुखी करने की भावना से की थी जिसके अनुसार किसी कुशल व्यक्ति को चुनकर उसमें शासकत्व सुनिश्चित करके हम सबको उसका शास्य हो जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त अपने संविधान द्वारा निर्देशित और अपने द्वारा चुनी गयी सरकार के द्वारा निमित्त नियम कानूनों, विधियों और वर्जनाओं का पालन करना भी हमारा परम कर्तव्य है। तभी लोकतन्त्र अर्थात् लोक की शासन व्यवस्था चलती है। अगर हम सब सत्ताप्राप्ति के लिये परस्पर कलहरत रहेंगे, नियम कानूनों की उपेक्षा अवहेलना करेंगे, तो छिद्रान्वेषी विदेशी शक्तियाँ पुनः भारत को टुकड़ों में बांटकर और भारतवासियों को आपस में लड़ाकर स्वयं को पुनः स्थापित कर लेंगी । हमारी राष्ट्रीय एकता पर एक बड़ा प्रश्न चिन्ह उपस्थित है।

वर्तमान शासन–व्यवस्था में विविध दलों के आधार पर शासन चलाने में मुख्यतः दो पक्ष दिखाई देते हैं – एक सत्ता पक्ष दूसरा विपक्ष। ये दोनों पक्ष निरन्तर कलहरत रहते हुये एक दूसरे के अभिभव–पराभव के लिये उत्तेजना और नीचता की किसी भी सीमा तक जाने में संकोच का अनुभव नहीं करते। दूसरी ओर अगर हम अपने शास्त्रों पर एक दृष्टि डालें तो यह पायेगे कि हमारे विविधशास्त्रों में पूर्वपक्ष और सिद्धान्त पक्ष नाम से दो परस्पर विरोधी पक्ष देखने को मिलते हैं। शास्त्र–चिन्तन में सिद्धान्त पक्ष पूर्व पक्ष द्वारा उपस्थापित शंकाओं और विरोधी तर्कों का निराकरण करते हुये ही अपने सिद्धान्त की स्थापना करता है। उनमें दोनों पक्षों का सम्मानजनक अस्तित्त्व स्पष्टतः देखने को मिलता है। सिद्धान्ती पूर्व पक्ष के लोप की कामना नहीं करता। न ही वह यह चाहता है कि पूर्व पक्ष को हटाकर उसके स्थान पर सिद्धान्ती को स्थापित कर लिया जाय।

परन्तु लोक शासन में सत्ता पक्ष और विपक्ष के लोग एक दूसरे के सिद्धान्तों की आलोचना अवहेलना न करके उलटे दूसरे पक्ष के लोगों पर सीधे आक्षेप प्रत्याक्षेप करते हैं। विपक्षी लोग चुनाव के शक्तिशाली माध्यम पर विश्वास न करते – हुये सत्ता पक्ष को हटाकर उनके स्थान पर अपने को सत्तासीन करना चाहते हैं । इसलिये वे झूठ के आरोपों की शरण लेते हैं, आन्दोलन करते हैं, बन्द करवाते हैं, तोड़–फोड़ कराते हैं, असहयोग करते हैं और ऐसे तर्को कर्मों की शरण लेते हैं जिनसे देश की एकता को गहरा आघात लगता है। इसी तरह सत्ता पक्ष भो प्रजारञ्जन और जन–कल्याणकारी नीतियों में अधिक ध्यान न देकर, केवल यह प्रयत्न करते रहते हैं कि उचित या अनुचित रीति से कैसे अधिकाधिक समय के लिये उनकी सत्ता बनी रहे। इस जोर और दबाव की राजनीति के परिणामस्वरूप देश की राजनीति में सिद्धान्तों का ह्रास होता जा रहा है और स्वार्थ तथा आतंक अपनी पकड़ मजबूत बनाते जा रहे हैं।

अब आजकल के विश्वविद्यालयों को दुःस्थिति पर विचार किया जाय। आज के शिक्षा संस्थान और विश्वविद्यालय राजनैतिक अखाड़ेबाजी और असन्तोष के गढ़ होते जा रहे हैं। अनुचित माध्यम से कम समय में सफलता के चरमोत्कर्ष तक पहुँचे हुये राजनीतिज्ञों को देख कर आज का विद्यार्थी भी उन्हीं तौर–तरीकों का प्रयोग विश्वविद्यालयों में अपने अधिकारियों से करते हैं, जिसका प्रयोग बाहर के राजनीतिक प्रायः करते रहते हैं । अनेकशः ये मठाधीश राजनेता ही विश्वविद्यालयों में होने वाले आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में रहते हैं । छिछले स्वार्थों की पूर्ति के लिये आजकल के छात्र नेता अधिकारियों के विरुद्ध नारेबाजी, गाली गलौज, तोड़–फोड़, हिंसा और आगजनी, पुतले जलाना आदि दुष्प्रवृत्तियों की शरण लेते हैं। बड़े खेद और चिन्ता की बात है कि आज के छात्रों में यह कदाचरण आया कहाँ से ? विपक्षी नेताओं की तरह से अधिकारी पद प्राप्त करने के लिये अथवा देश के नायकों के आचरण की देखा–देखी ?

क्या विश्वविद्यालयों में लोकतन्त्र की रीति नीति का प्रयोग करना उचित है ? जिस तरह का मतभेद और सिद्धान्त भेद सत्ता पक्ष और विपक्ष के मध्य है क्या वैसा ही विरोध विश्वविद्यालय के अधिकारियों और छात्रों के मध्य होता है? छात्र न तो अधिकारी का पद प्राप्त करना चाहते हैं और न अधिकारी लोकतन्त्र के शासकों की तरह से छात्रों के चुने हुये प्रतिनिधि होते हैं । अधिकारियों की नियुक्ति तो राज्यपाल या राष्ट्रपति द्वारा होती है। उनके और छात्रों के बीच मतभेद कैसा ? जहां विद्यार्थियों से इस बात की अपेक्षा होती है कि वे गुरु शिष्य

भाव का आश्रय लेकर अधिकारियों की आज्ञा मानेंगे और ऐसे कार्यो को पूरे मनोयोग से करेंगे जिनके करने से विद्या प्राप्ति में सुकरता आवे; तब वे इसके विपरीत आचरण करके अधिकारियों को अपमानित करते हैं, तो उनके पुतले जलाते हैं, नारेबाजी व अशोभन भाषा का प्रयोग करते हैं। दूसरों का उल्लू सीधा करने में स्वयं का इतना नुकसान करते हैं। अन्य शिक्षा संस्थाओं की तरह संस्कृत विश्वविद्यालय के छात्र भी इस विषय में वैसा ही कदाचरण करते हैं, यह बहुत दुःख की बात है। संस्कृत ने सदैव दूसरे के सामने आदर्श प्रस्तुत किया है और संस्कृताचरण हमेशा विश्व के लिये अनुकरणीय रहा है। परन्तु आज वे सर्वथा असंस्कृत व अशोभन आचरण प्रस्तुत करते हैं। आज वे अनुकरणीय न बनकर स्वयं दूसरों के छुद्र दूषित आचरणों का अनुकरण करने लगे हैं।

यदि संस्कृत विश्वविद्यालयों में व्याप्त अराजकता के मूल में जाया जाय तो यह देखने को मिलेगा कि केवल थोड़े से ऐसे स्वार्थी लोग जो केवल स्वार्थपूर्ति के लिये विश्वविद्यालय में अपना नाम लिखवाते हैं और कक्षाओं में कभी उपस्थित नहीं होते, ऐसे कृतक छात्रों का सहयोग लेकर दूषित आचरण वाले छात्र नेता ही विश्वविद्यालयों की पूरी गड़बड़ी के लिये जिम्मेदार हैं। 'एकः करोतिः पापानि फलं भुडक्ते महाजनः' के अनुसार ऐसे थोड़े से शरारती तत्व शिक्षा संस्थाओं में व्याप्त अराजकता के लिये जिम्मेदार हैं। ऐसे थोड़े से लोगों को विश्वविद्यालयों से बाहर कर देने की कटिबद्धता न तो अधिकारियों में है, न ही सरकार से इतना संरक्षण अधिकारियों को प्राप्त होता है और न ही समाज के द्वारा ऐसा वातावरण ही प्रस्तुत किया जाता है।

हमारी चिन्ता का चरम बिन्दु यही नहीं है। हमारे समाज में प्रायः ऐसे लोग मिल जाते हैं, विश्वविद्यालय में भी अनेक प्राध्यापक इस विचारधारा के मिल जाते हैं, जो इस तोड़फोड़ की घटना पर हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं क्योंकि अधिकारीगण उन अध्यापकों के प्रति अनुकूल नहीं बन पाते। कुछ लोग इसी तरह के उत्तेजकतत्वों को संरक्षण देकर अधिकारियों से इसी के आधार पर सौदेबाजी करते हैं। अभिभावक और समाज के सभी लोगों को चाहिये कि वे ऐसे तत्वों की निन्दा भर्त्सना करें और इस स्थिति के विपरीत एक अच्छा सामाजिक वातावरण प्रस्तुत करें जिससे इन तत्वों का मनोबल गिरे और बदलाव की स्थितियां जन्म ले सके।

जहाँ तक वर्तमान परिप्रेक्ष्य में संस्कृत की अवश्याध्येयता का प्रश्न है, निःसन्देह संस्कृत भाषा आज भी वही स्थान प्राप्त करने की योग्यता रखती है

जो उसे प्राचीन काल में प्राप्त था और संस्कृत भाषा में भारत ही नहीं विश्व की समस्याओं का सर्वमान्य समाधान प्रस्तुत करने की क्षमता है। संस्कृत भाषा के माध्यम से शब्दतत्व की जैसी साधना हो सकती है, वैसी साधना अन्य भाषाओं द्वारा सम्भव नहीं है। अद्यतन विश्व के कठिन से कठिन कार्य जिनका समाधान करना वैज्ञानिक और इलेक्ट्रानिक युग में भी आज सम्भव नहीं है, उनका समाधान केवल शब्द साधना मात्र से किया जा सकता है। शब्द तत्व में बड़ी विलक्षण अदृश्य शक्ति रहती है। जिस प्रकार से सेवित की जाने वाली औषधि शरीर के अन्दर पहुँचकर अप्रत्यक्ष कार्य साधित करती है, उसी प्रकार मन्त्रों द्वारा अर्थ शब्द सामर्थ्य द्वारा सर्प का भयंकर विष और तीब्र, ज्वर शमित हो जाता है ऐसा हम सबको अनुभव है। जिस प्रकार आधुनिक औषधियों द्वारा स्त्रियों को निरापद प्रसव कराया जाता है, उसी प्रकार शब्दतत्व द्वारा वायु को प्रकुपित कर प्रसव साध्य हो सकता है। वेद, पुराण, तन्त्र–मन्त्र आदि के माध्यम से हमारे महर्षि लोग चिकित्सा करते थे। 'न हि भूते भाविनि वा तादृर्शी प्रातिर्यादृशी वर्तमाने' इस न्याय से आज लोक भूत की कथाओं के वर्णन मात्र से तृप्ति का अनुभव नहीं कर सकता। परन्तु 'न ह्येषः स्थाणोरपराधः य एनमन्धो न पश्यति' की कहावत सर्वविदित है। आज भी वह सब ज्ञान विज्ञान हमारे शास्त्रों में भरा पड़ा है। जब समाज और सरकार द्वारा ऐसा वातावरण ही प्रस्तुत नहीं जिसमें वर्णाश्रम धर्म का पालन हो सके, वेद, उपनिषद् तथा शास्त्रों में सन्निहित मूल तत्व की साधना की जा सके, तो इसके लिये संस्कृत भाषा का दोष कितना है। ऋषियों का शाप देना और वरदान देना अमोघ होता था। ऐसी क्या बात थी कि अर्थ वाक्सिद्ध ऋषियों के पीछे–पीछे हाथ जोड़े टहलते थे। आज अनावृष्टि, अतिवृष्टि, दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकम्प और समुद्री तूफान जैसे प्राकृतिक विपदाओं को दूर करने का क्या साधन है, आधुनिक विज्ञान के पास। परन्तु हसारे आर्यविज्ञान में शब्दतत्व वह अद्भुत सामर्थ्य थी, जिसकी साधना से इन सब पर अंकुश लगाया जा सकता था।

भवभूति और मीमांसा दर्शन

प्रो0 सोमनाथ नेने
पूर्व आचार्य
संसकृत विभाग
बी0एच0यू0
वाराणसी

संस्कृत वाङ्मय में सहृदय–हृदय के सत्त्व प्रधानन्तःकरण को आनन्द रस से आप्लावित करने वाले महाकवियों के कल्पना विलास–विलसित, माधुर्य, ओज प्रसादादि गुणों तथा रीति एवं अभिव्यक्ति की विविध भंगिमाओं से सुशोभित वचनों द्वारा समुत्पन्न दिव्य आभा से आलोकित साहित्याकाश, महाकवि भवभूति की रस–प्रस्रविणी वाणी तथा विविध विद्याविचारवैदग्ध्य से और अधिक दीप्ति को प्राप्त हुआ है।

सर्वतोगामी प्रतिभा के उन्मेष से विलसित महाकवि भवभूति ने अपने द्वारा निर्मित नाट्य साहित्य में मानव जीवन के विभिन्न भावों का सजीव चित्रण करने के साथ प्रसंगवश यथास्थान अपने गम्भीर दार्शनिक वैदग्ध्य का भी प्रकाशन किया है।

मीमांसा शास्त्र की परिधि में महाकवि भवभूति, भाट्ट परम्परा के आद्य आचार्य कुमारिल के शिष्य उम्बेकाचार्य के नाम से ख्याति को प्राप्त हुए हैं। उम्बेकाचार्य ने मीमांसाशास्त्र में कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' पर तात्पर्य टीका के साथ मण्डन मिश्र के 'भावना विवेक' पर भी टीका की रचना की है। महाकवि भवभूति की मीमांसक अम्बेक के रूप में स्वीकृति निर्विवाद नहीं है।

सर्वप्रथम, श्री शंकर पाण्डुरंग पण्डित ने वाक्पतिराजकृत गौडवहो (गौडवध) की भूमिका में इस प्रश्न की ओर ध्यान आकर्षित किया है। इन्दौर के श्री एम.बी. लेले से प्राप्त 500 वर्ष पुरानी 'मालती माधव' की पाण्डुलिपि के तृतीय पृष्ठ एवं दशम अंकों की पुष्पिकाओं में से तृतीय अंक की पुष्पिका में–कुमारिल स्वामिशिष्यउम्बिकाचार्यकृते' तथा दशम अंक की पुष्पिका में भवभूतिकृते, इन विशेषणांशों से भवभूति तथा मीमांसक उम्बेक के एक व्यक्ति होने के सिद्धान्त की स्थापना हुई है।[1] भवभूति को उम्बेक

मानने का दूसरा कारण 'मालती–माधव' के प्रथमांक की प्रस्तावना में विद्यमान श्लोक है –

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमति तान् प्रति नैषयत्नः।

उत्पत्स्यते मत तु कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययायं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।।[2]

प्रस्तुत श्लोक इसी रूप में कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक पर उम्बेक की 'तात्पर्यटीका' में भी दृष्टिगोचर होता है। भवभूति के ग्रन्थों में श्लोकों की पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति भी मालती माधव तथा श्लोकवार्तिक की टीका में प्राप्त समान श्लोक से दोनों को एक व्यक्ति सिद्ध कर रही है। सन्दर्भित पाण्डुलिपि के स्वामी माधव व्यंकट लेले ने भी यही विचार व्यक्त किया है।[3] चित्सुखाचार्य ने अपनी टीका तत्त्व प्रदीपिका (चित्सुखी) में 'नहि पुराप्त एवं सन् नाटकनाटिकादिप्रबन्ध विरचनामात्रेणानाप्तो भवति भवभूतिः' इस उद्धरण द्वारा भवभूति तथा उम्बेक की अभिन्नता सिद्ध कर दी है। चित्सुखी की नयन टीका में प्राप्त 'भवभूति उम्बेकः' यह अंश भवभूति तथा उम्बेक की अभिन्नता का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन कर रहा है।

आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय, डा. पी.वी. काणे, आचार्य कुप्पु स्वामी शास्त्री, पण्डित एस0आर0 रामनाथ शास्त्री तथा वाचस्पति गैरोला आदि आचार्य भवभूति तथा उम्बेक को एक व्यक्ति स्वीकार करते हैं।[4]

डा. मिराशी तथा डा. कुन्हन राजा भवभूति एवं उम्बेक को परस्पर भिन्न व्यक्ति मानते हैं। डा0 कुन्हन राजा के मतों से सहमति रखते हुए डा. मिराशी ने इन दोनों को परस्पर भिन्न व्यक्ति मानने में दो तर्क उपस्थित किये हैं। प्रथम तर्क है–कालभेद! डा. मिराशी ने भवभूति को अष्टम शताब्दी के प्रथम चरण में माना है तथा उम्बेकाचार्य का काल 775 से 800 ई. निर्धारित किया है, अतः दोनों के बीच कालभेद है। डा. मिराशी का द्वितीय तर्क स्थान भेद है। डा. मिराशी ने भवभूति का उत्तरभारत का तथा उम्बेक को दक्षिण भारत का व्यक्ति माना है।[5]

डा. मिराशी द्वारा प्रस्तुत दोनों तर्कों का 'उत्तररामचरितम्' की भूमिका में आचार्य पी.वी. काणे ने निराकरण कर दिया है। डा. काणे का मन्तव्य है कि 760 से 800 ई. में विद्यमान कमलशील ने उम्बेक का खण्डन किया है, अतः उम्बेक को 760 ई. से पूर्ववर्ती मानना आवश्यक है। भवभूति का समय 680 के आस–पास माना जाए तथा उनकी आयु 80 वर्ष मानी जाए तो उन्हें 680 से 760 ई. तक के काल में स्थापित किया जा सकता है। अपने जीवन के 45 या 50 वर्ष तक नाटकादि लिखकर साहित्य में पर्याप्त यश प्राप्त कर लेने के पश्चात् उनकी मीमांसा में प्रवृत्ति हुई तथा कुमारिल का शिष्य बनकर इन्होंने मीमांसा विषयक ग्रंथों का प्रणयन किया, ऐसी सम्भावना से भी 750 ई. के लगभग भवभूति तथा उम्बेक दोनों का अस्तित्व सम्भव है।

स्थान–भेद के तर्क के निराकरणार्थ डा. काणे का यह तर्क है कि मालती माधव के 'केरलीकपोलकोमलोद्वेल0' में केरल की सुन्दरियों का महाकवि ने वर्णन किया है। केरल में मीमांसा का विशेष अध्ययन होता था। भवभूति वहाँ पर्याप्त समय तक रहे तथा दक्षिण में जाकर अपना नाम उम्बेक रख लिया।[6]

डा. काणे के अनुरूप वाचस्पति गैरोला भी भवभूति तथा उम्बेक को एक व्यक्ति स्वीकार करते हुए कहते हैं कि 'श्रीकृष्ण भट्ट उनके बचपन की यादगार है, भवभूति उनके कवि जीवन की सौगात है, उम्बेक उनके बुढ़ापे के दिनों की सुधि दिलाता है।[7]

परमादरणीय डा. काणे तथा आचार्य वाचस्पति गैरोला के भवभूति तथा उम्बेक को एक व्यक्ति मानने के सिद्धान्त का समर्थक होने पर भी साहित्य–निर्माण करने के पश्चात् भवभूति द्वारा मीमांसाशास्त्र का अध्ययन कर उम्बेक नाम धारण करने की जो सम्भावना दोनों आचार्यों ने व्यक्त की है, उससे मैं सहमति नहीं रख पा रहा हूँ, क्योंकि मालती माधव की पुष्पिका में भवभूति द्वारा स्वयं वा कुमारिल शिष्य के रूप में उल्लेख, इस सम्भावना को निरस्त कर देता है। मेरी अवधारणा यही है कि महाकवि, भवभूति के रूप में साहित्यिक थे तथा उम्बेक के रूप में मीमांसक थे।

सम्भव है कि इन्होंने मीमांसाशास्त्र के ग्रन्थों की रचना बाद में की हो, परन्तु इनके द्वारा प्रणीत साहित्य में लब्ध कर्मकाण्ड के अनेक सन्दर्भ इन्हें एक पारम्परिक मीमांसक सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ हैं।

भवभूति तथा उम्बेक की अभिन्नता पर विचार करते हुए डा. रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर जगद्धरी टीका सहित अपने सम्पादित मालती माधव की भूमिका में कहते हैं कि ''यद्यपि भवभूति को कुमारिल–शिष्य मानने में कालक्रम की दृष्टि से कोई विरोध नहीं है, तथापि कुमारिल एक महान् मीमांसक थे, परन्तु भवभूति नहीं थे। इन्होंने अपने नाटकों की प्रस्तावना में ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का वर्णन किया है, परन्तु ऐसा कोई भी संदर्भ नहीं मिलता जिसका संबंध मीमांसा से हो।'' प्रस्तुत विवेचन का उपसंहार करते हुए विद्वान लेखक ने लिखा है कि उक्त अवधारणा का वे पूर्णतः खण्डन नहीं कर रहे हैं, परन्तु उनका आशय यह है कि इस तथ्य को प्रमाणित करने हेतु अभी आगे भी शोध आवश्यक है।[8]

विद्वान् लेखक द्वारा प्रस्तुत संदर्भ में प्रतिपादित व्यापक अनुसंधान की आवश्यकता की भावना का समर्थक होते हुए भी मैं मीमांसा का संदर्भ न होने से भवभूति मीमांसक नहीं थे, इस विचार से सहमत नहीं हूँ। महाकवि ने अपनी तीनों रचनाओं में स्वयं के लिए पदवाक्यप्रमाणज्ञ, इस विशेषण को प्रस्तुत किया है। इसमें वाक्य शब्द महाकवि के मीमांसाशास्त्र वेदग्ध्य के प्रकाशनार्थ ही प्रयुक्त है, अतः महाकवि भवभूति की रचनाओं में मीमांसा का संदर्भ नहीं है, यह कथन स्वयं असमीचीनता के गर्त में विलीन हो जाता है।

प्रस्तुत संदर्भ में मेरी अवधारणा यह है कि महाकवि अपने कर्मकाण्डीय वंश की परम्परा से स्वाभाविक रूप से मीमांसक है, अतः इनका मीमांसकत्व स्वतः सिद्ध होने के कारण अपनी इस विशेषता का स्पष्टतः उल्लेख न कर मीमांसाशास्त्र से भिन्न शास्त्रों में भी अपने अधिकार को प्रकाशित करने के लिए ही इन्होंने सांख्य, योग, वेदांत आदि का उल्लेख किया है।

यद्यपि महाकवि ने अपनी रचनाओं में मीमांसाशास्त्र का स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया है, तथापि इनके द्वारा विरचित तीनों नाटकों में ऐसे कई संदर्भ हैं, जिन्हें मीमांसक की दृष्टि से देखने पर कर्मकाण्ड, दार्शनिक तथा वाक्यशास्त्रीय, इन तीनों रूपों से समन्वित मीमांसाशास्त्रविषयक इनका वैदग्ध्य प्रस्फुटित हो जाता है।

मीमांसा का कर्मकाण्ड स्वरूप :

भारतीय दर्शन की परम्परा में योगरूप कर्म के अनुष्ठान को धर्म मानने वाली मीमांसा में यज्ञीय कर्मानुष्ठान के प्रति विद्यमान आस्था को महाकवि ने अपनी समग्र रचनाओं में जहाँ भी इन्हें अवसर मिला है, पूरी निष्ठा के साथ अभिव्यक्त किया है। अपनी प्रथम रचना–'मालती माधव' की प्रस्तावना में ''आदिष्टोऽस्मि विद्वत्परिपदा यथा अद्य त्वयाऽपूर्ववस्तुप्रयोगेण''[9] इस अंश में तथा 'महावीर चरितम्' में सूत्रधार की 'कृतप्रसादाः पारिषदाः किन्त्वपूर्वत्वात्प्रबन्धस्य,[10] इस उक्ति में विद्यमान अपूर्व' पद नूतन' इस अर्थ के साथ मीमांशाशास्त्र में कर्मजन्य, कर्मफल की अवाप्ति पर्यन्त कर्ता (आत्मा) में स्थिर रहने वाले अदृष्ट की ओर भी ध्यान आकर्षित करा रहा है। 'उत्तर रामचरितम्' के प्रथमांक के 'अपूर्वकर्मचण्डालमयि'[11] इस अंश में महाकवि द्वारा प्रयुक्त अपूर्वकर्म पद का शब्दार्थ यद्यपि असाधारणकार्य है, तथापि शब्दसंयोजनकर्मनिष्णात महाकवि द्वारा यागरूपी कर्म तथा तज्जन्य अदृष्ट रूपी अपूर्व, इन दोनों के कार्यकारणभाव के प्रदर्शक, अपूर्व तथा कर्म पदों का एकाधिकबार प्रयोग निश्चय ही एक सहज संयोग नहीं है, अपितु मीमांसा–दर्शन के वैदग्ध्य तथा अनुराग को अभिव्यक्त करने का महाकवि का एक सफल प्रयास है।

'मालती माधव' की प्रस्तावना में अपने वंश की प्रशस्ति में 'कर्मणेऽर्थान्'[12] पद से यज्ञानुष्ठानार्थ अपने पूर्वजों के धनार्जनविषयक आस्था का वर्णन स्वयं महाकवि की यज्ञविषयक आस्था का प्रकाशक है।

'महावीरचरितम्' के प्रथमांक में 'आचार इति यजमानेऽपि यज्ञे निमन्त्रितोऽसि'[13] इस वाक्य में कर्मात्मक यज्ञ के कर्ता यजमान तथा 'आचार पद' से इतिकर्तव्यता का सुन्दर समन्वय महाकवि ने प्रदर्शित किया है।

''प्रवृत्तयज्ञोऽसौ विदेहाधिपतिः सुखी''[14] इस वाक्य में यज्ञ तथा तद्विषयक प्रवृत्ति का महाकवि ने प्रदर्शन किया है। सीता की प्रशंसा में 'उत्पत्तिर्देवयजनात्'[15] इस वाक्यांश द्वारा सीता के यज्ञ–भूमि से उत्पन्न होने को एक वैशिष्ट्य के रूप में महाकवि ने प्रतिपादित किया है। 'दीक्षिष्यमाणः कौशिकः'[16] में महाकवि ने यागविषयक दीक्षा तथा 'अयन्तु अजमानेने'[17] तथा 'दृष्टश्च तत्र यजमानः'[18] इन दोनों वाक्यांशों में विद्यमान यजमान पद से यागकर्ता का अनेक बार उल्लेक किया है।

तृतीय अंक में वसिष्ठ द्वारा शतानंद के विशेषण में महाकवि ने 'कः कोऽन्न भोः प्रसाद्यतां प्रसाद्यताम्। अयं धवित्रनिर्द्धूतइवाग्निः प्रणीतपृषदाज्याभिघार–धीरतरस्तनूनपात्
समिध्यमानदारूणब्रह्मवर्चसज्योतिराडिरस्यः।'[19] (पंख के झलने से प्रदीप्त, मन्त्र द्वारा पवित्र तथा दधिसिक्त घृत की धारा के सेचन से घोर यागाग्नि के समान) इस विशेषणांश में 'पुषदाज्येनानुयाजान् यजित इस श्रुति द्वारा प्रतिपादित यागरूपी कर्म तथा उसकी इति कर्त्तव्यताविषयक महाकवि का परिज्ञान उन्हें पारम्परिक मीमांसक सिद्ध करता है। चतुर्थ अंग में 'प्रकृष्ट पुण्यपरिपाकोपादान एष महिमा'[20] इस विश्वामित्र की उक्ति में परम पुण्य के परिपाक रूपी अदृष्ट को राम की महिमा में कारण के रूप में महाकवि ने प्रतिपादित किया है। ''परोक्षे सुकृत कर्म्म तयोः प्रीतिं करिष्यति'[21] इस अंश में भी महाकवि ने सुकृत कर्मरूपी पुण्य में सुख निरूपित कारणता का प्रतिपादन करते हुए अपने अदृष्टविषयक ज्ञान तथा आस्था को प्रदर्शित किया है।

'महावीर चरितम' के प्रथम अंक में निम्नलिखित 'स्कन्धारोपित श्लोक भी महाकवि के कर्मकाण्डविषयक ज्ञान एवं अभिरूचि की ओर ध्यान आकर्षित करने में समर्थ है। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है–

''सूर्यरूपी आपकी किरणों को रोकने के लिए अपने वाजपेय यज्ञ में अर्जित छत्र लेकर तथा यज्ञ पात्रों के समूहों को कंधे पर लादकर, अग्नि धारण कर अनुसरण करने वाली पत्नियों के साथ सैनिकों सहित हीमधेनुओं को आगे करके ये संकेत के वृद्ध महाब्राह्मण भी दौड़ रहे हैं।''

प्रकृत संदर्भ में वाजपेय यज्ञ, यज्ञपात्र तथा अग्निहोत्री ब्राह्मणों के साथ निरंतर रहने वाले अग्नि का वर्णन महाकवि के कर्मकाण्डीय ज्ञान की प्रगाढ़ता का स्पष्ट परिचायक है।

'उत्तररामचरितम्' की प्रस्तावना में अंतर्वत्नी सीता को कुलगुरू वशिष्ठ सहित राम की माताओं द्वारा एकाकी छोड़ने के लिए महाकवि ने राम के आवृत्त ऋष्यश्रृंग द्वारा द्वादशसत्रयाग के आयोजन की अभिनव कल्पना प्रस्तुत कर अपनी यज्ञानुष्ठान विषयिणी आस्था को भी अभिव्यक्त किया है।[23]

'महावीर चरितम्' तथा 'उत्तररामचरितम्' इन दोनों नाटकों में समान आनुपूर्वी द्वारा महाकवि ने निम्नलिखित श्लोक को उपस्थित किया है।

किन्त्वनुष्ठाननित्यत्वं स्वातंत्र्यमकर्षति।
संकटा ह्याहिताग्नीनाँ प्रत्यावायैगृहस्थता।।[24]

प्रकृत श्लोक में आहिताग्नी अर्थात् दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य एवं आहवनीय, इन तीनों अग्नियों से सम्पन्न गृहस्थ के लिए यथोचित समय पर इनके अनुष्ठान हेतु प्रतिबद्धता के कारण उसके अस्वातंत्र्य, वशिष्ठ द्वारा राम को प्रेषित संदेश में यज्ञहेतु उनके रूकने की विवशता तथा आत्रेयी की उक्ति में विद्यमान 'स' ब्रह्मर्षिरेकदा माध्यन्दिन सवनाय'[25] इस अंश में ब्रह्मर्षि के स्नानरूप अर्थ की निष्पत्ति के लिए कर्मकाण्ड से संबंधित तीनों (प्रातः, माध्यन्दिन तथा सायन्तन) सवन रूप कर्मों के प्रतिपादक 'सवन' शब्द का प्रयोग इनके मौलिक रूप से मीमांसक होने के अर्थ को स्पष्टतः अभिव्यक्त कर रहा है।

शम्बूक वध के संदर्भ में शब्दप्रयोगनिष्णात महाकवि द्वारा 'ततः प्रविशति सदयोद्यतखड्गो रामभद्रः'[26] इस नाट्य निर्देश में 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस वाक्य के अनुरोध से यज्ञ के बाहर हिंसा मान्य न होते हुए भी यज्ञीय विधि विधान में हिंसा का कर्त्तव्यभावना से स्वीकार करने की संगति की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। मीमांसा दर्शन भी हृदयनिष्ठ दया का कर्त्तव्य की कठोरता के साथ ही समन्वय प्रस्तुत करता है। प्रकृत प्रसंग

में राम की स्वाभाविक अनुकम्पा तथा कर्त्तव्य–कठोरता का समन्वय प्रदर्शित करते हुए महाकवि ने इस मीमांसा–सम्मत अर्थ की ओर ध्यान आकृष्ट कराने के लिए ही कदाचित् 'उद्यत खड्ग' के साथ सद्य शब्द को समन्वित किया है।

ऋत्विजों की उपस्थिति में यज्ञीय पशु की हिंसा के औचित्य–प्रतिपादनार्थ कदाचित् महाकवि 'सत्संगजानि निघानान्यपि तारयन्ति'[27] इस वाक्य को राम द्वारा शम्बूक के मुख से कहला रहे हैं।

'महावीरचरितम्' में वसिष्ठ तथा विश्वामित्र द्वारा परशुराम के आतिथ्य के लिए 'सज्ञप्यते वत्सतरी सर्पिष्यन्नं च पच्यते।'[28] इस वाक्यांश में तथा 'उत्तररामचरितम्' के चतुर्थ सर्ग में सौधातकि एवं दाण्डायन के वार्तालाप में 'योनागतेषु वसिष्ठमिश्रेषु वत्सतरी विशसिता'[29] इस अंश में वाल्मीकि आश्रम में समागत वसिष्ठ के आतिथ्य हेतु मधुपर्क के लिए वत्सत्तरी (दो वर्ष की बछिया) के विशसन के वृत्तान्त द्वारा महाकवि ने उन्हें ज्ञात मधुपकं तथा यज्ञ में ही पशु हिंसा के औचित्य की भावना को अभिव्यक्त किया है।[30] चतुर्थ अंक के 'एतद्वैशसवज्रघोरपुतन'[31] इस जनक के विलाप तथा षष्ठ अंक में 'वृत्ते महावैशसे'[32] इस राग की उक्ति में विद्यमान 'वैशस' शब्द सीतापरित्यागकर्म की दारूणता के साथ यज्ञ में पश्वालम्भन का भी स्मरण कराता है। महाकवि के मीमांसकत्व को ध्यान में रखने पर कर्त्तव्यतया पश्वालम्भन की समीचीनता के अनुरूप दारूण होने पर प्रजारञ्जनधर्मा राजा के द्वारा कर्त्तव्यतया किये गये सीता परित्यागकर्म्म की समीचीनता की भी, प्रस्तुत संदर्भ संगति प्रदर्शित कर रहा है।

मीमांसा का दार्शनिक पक्ष :

महाकवि भवभूति की करूणरस प्रवाहमयी सरसवाणी का मीमांसक के दृष्टिकोण से परिशीलन करने पर महाकवि के साहित्य में मीमांसा के कर्मकाण्ड पक्ष के साथ दार्शनिक तथा वाक्यशास्त्रीय पक्षों के संकेतक संदर्भ भी विद्यमान हैं। महाकवि के साहित्य में विद्यमान कतिपय संदर्भ मीमांसा की दार्शनिक मान्यताओं में से शक्तिवाद, स्वतः प्रामाण्य, विपरीत

ख्याति तथा आत्मा के संदर्भ में प्रसिद्ध अनेकान्तवाद की ओर भी प्रकारान्तर से ध्यान आकर्षित करा रहे हैं।

शक्तिवाद :

'उत्तररामचरितम्' के द्वितीयांक के चतुर्थ श्लोक में कुमार कुशलव की बुद्धि की कुशाग्रता के वर्णन के प्रसंग में समागत 'न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्ति करोति अपहन्ति वा'[33] इस पंक्ति के माध्यम से मीमांसा दर्शन के शक्ति को एक स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकार करने के विशिष्ट सिद्धान्त का भंगिमान्तर से प्रदर्शन किया है। शक्ति के संदर्भ में मीमांसक तथा नैयायिकों का मतभेद अत्यन्त प्रसिद्ध है! कार्यकारण के परस्पर सम्बन्ध के सन्दर्भ में मीमांसक कार्य की निष्पत्ति में हेतु भूत कारण के अतिरिक्त उसमें विद्यमान परिस्थितिवश उत्पन्न तथा नष्ट होने वाली शक्ति को भी कारण से अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार करते है। इसका उदाहरण वे तृणारणिमणिन्याय द्वारा प्रदर्शित करते हैं। इनके मतानुसार चन्द्रकान्तमणि के सन्निधान से अग्नि में विद्यमान दाहशक्ति समाप्त हो जाती है तथा सूर्यकान्तमणि (उत्तेजक) का संयोग होने पर या चन्द्रकान्त दोनों मणियों को हटा लेने पर पुनः अग्नि में दाहशक्ति उत्पन्न हो जाती है। प्रकृत संदर्भ में ''गुरू द्वारा व्युत्पन्न शिष्य में 'शक्ति' के आधान तथा अपहरण न करने के वर्णन से भी शक्ति का विद्या प्राप्ति रूप कार्य के विद्यादानात्मक कारण से भिन्न होने का मीमांसासम्मत सिद्धान्त महाकवि को मान्य प्रतीत होता है। श्लोक के चतुर्थ चरण–

'प्रभवति शुचिर्विम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः' में विद्यमान 'मणि' शब्द का प्रयोग अन्य अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी शक्ति सिद्धान्त के संदर्भ में तृणारणिमणिन्याय का स्मारक बन जाता है। षष्ठ अंक के 'किमाग्नेयो ग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति।'[34] इस श्लोकांश में सूर्यकान्त मणि का, 'मालती–माधवम्' तथा 'उत्तररामचरितम्' में समान रूप से उपलब्ध 'द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चंद्रकांतः'[35] तथा 'महावीरचरितम् के 'राका सुधाकरालोकादिन्दुकान्तोपलो यथा'[36] इन श्लोकांशों में चन्द्रकान्त मणि का अनेक बार किया गया उल्लेख, महाकवि की मीमांसा के शक्ति–सिद्धान्त

तथा 'तृणारणिमणिन्याय की अभिज्ञा तथा मान्यता को भी प्रकाशित करता है।

स्वतः प्रमाण्य एवं विपरीतिख्याति :

'महावीरचरितम् का निम्नलिखित श्लोक, साहित्यिक सौन्दर्य के अतिरिक्त दार्शनिक दृष्टि से भी अवलोकनीय है–

अज्ञो व यदि वा विपर्ययगतो ज्ञानेऽथ सन्देहभृद्
दृष्टा दृष्टाविरोधि कर्म कुरूते यस्तस्य गोप्ता गुरूः।
निःसन्देह–विपर्य्यये सति पुनज्ञाने विरूद्धक्रियं,
राजा चेतपुरूषं न शास्ति तदयं प्राप्तः प्रजाविप्लवः।।[37]

''यदि अज्ञ या विभान्त या संशयग्रस्त, दृष्टादृष्टविरोधि कर्म अर्थात् भली भांति न जानकर विरूद्ध कर्म करता है, तो ऐसी स्थिति में गुरू उसका रक्षक (भ्रम शोधक) होता है परन्तु पूर्णरूप से विपरीत ज्ञान के अधीन विरूद्ध कार्य (आचार के उल्लंघन) कर्ता पुरूष का राजा यदि शासन नहीं करता, तो ऐसी स्थिति में विप्लव (अव्यवस्था) फैल जाती है।

प्रकृत श्लोक में विद्यमान विपर्ययगतो, दृष्टा दृष्ट कर्म तथा 'निःसन्देहेन विपर्यये सति पुनर्ज्ञाने' ये पद अपेक्षित अर्थ के अभिधान के साथ महाकवि के कर्म्म काण्ड–नैपुण्य तथा मीमांसा–सिद्धान्त–वैदग्ध्य की ओर भी दृष्टि आकर्षित करते हैं। उक्त श्लोक में अदृष्ट शब्द मीमांसा के अपूर्व तथा विपर्ययगतो तथा निःसन्देहेन विपर्यये सति पुनर्ज्ञाने' ये दोनों पद ख्याति–सन्दर्भ में भाट्टमत की प्रसिद्ध विपरीत ख्याति का स्मरण कराते हुए इन सिद्धान्तों से महाकवि की अभिज्ञता तथा प्रकारान्तर से इन्हें प्रकट करने के नेपुण्य को प्रकाशित कर रहे हैं।

इसी प्रकार 'ध्रुवं ज्ञाने दोषः कथमपरथा दुर्व्यवहृति' श्लोक का यह तृतीय चरण 'दुर्व्यवहृति' रूप हेतु से ज्ञान के वैपरीत्य का साधक होने से इस श्लोकांश के माध्यम से महाकवि ने भाट्ट सम्प्रदाय में दोष ज्ञान के पश्चात् ज्ञान के अप्रामाण्य को मानकर दोष ज्ञान उत्पन्न न होने तक ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य के सिद्धान्त को प्रख्यापित किया है।

आत्म–अनेकांतवाद :

'उत्तररामचरितम्' के प्रथमांक में 'विनिश्चेतु शक्यो नं0' इत्यादि श्लोक चतुर्थ चरण है–'विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च सम्मीलयति च'[38]। तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में इन्द्रिय समूह को निश्चेष्ट बना देने वाला विकास मेरी चेतना को कभी भ्रान्त बना देता है और कभी नष्ट कर देता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ राम के हृदय में विद्यमान सीता विषयक प्रेम का एक अत्यन्त मनोरम कोमल भाव प्रकट करने के साथ महाकवि के शास्त्रीय गुरू कुमारिल द्वारा नाना विकारों के होने पर भी आत्मतत्व को स्थिर मानने के विलक्षण अनेकान्तवाद की ओर आकर्षित कर रहा है।

द्वितीय अंक में 'अनवस्थितो भूत–सन्निवेशः'[39] इस अंश द्वारा भौतिक पदार्थों की परिवर्तनशीलता के वर्णन के साथ सम्पूर्ण वन की परिस्थिति बदल जाने पर पर्वत द्वारा यह वही वन है, यह प्रत्यभिज्ञान'[40] सत्ता, ज्ञान, सुख, दुखादि आन्तरिक परिवर्तनों में आत्मतत्व की स्थिरता का स्मारक है।

तृतीय अंक में 'आवर्तबुद्बुद्तरंगमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्'[41] इसे श्लोकांश में भँवर, बुदबुद, तरंग आदि विकारों के रहने पर भी इन सबके जलरूप होने के वर्णन से आभ्यन्तर परितर्वनों में आत्मतत्व के स्थिर मानने का कुमारिल मत महाकवि को अभीष्ट प्रतीत होता है।

मीमांसा का वाक्य विज्ञान :

भारतीय चिंतन की गरिमामय शृंखला में अपने वैदिक वाक्यों के अर्थावधारण द्वारा धर्मावबोधक मीमांसा के वाक्यविज्ञानात्मक पक्ष की ओर भी महाकवि कतिपय संदर्भों द्वारा संकेत कराते हुए प्रतीत होते हैं। महाकवि भवभूति ने अपने द्वारा विरचित नाटकों की प्रस्तावना में 'पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूति'[42] इस विशेषणाँश द्वारा अपने मीमांसाशास्त्र–विचक्षणत्व का भी प्रकाशन किया है। श्री काणे तथा आचार्य कपिलदेव द्विवेदी जी ने 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' इस अंश के प्रमाण–पद से भवभूति की मीमांसादर्शननिरूपित विशेष्यता का प्रतिपादन किया है।[43] यद्यपि मीमांसाशास्त्र के लिए भी न्याय शब्द का व्यवहार है तथा मीमांसा में प्रमाण का निरूपण भी है, तथापि 'प्रमाण' न्याय के लिए रूढ़ है। मीमांसा

का चरम प्रयोजन वेदवाक्यों के विशेषण से कर्मानुष्ठानात्मक धर्म का प्रतिपादन होने से उक्त विशेषणाँश में 'वाक्य' अंश द्वारा ही इनके मीमांसाशास्त्र वैदग्ध्य के स्वीकार में अधिक औचित्य प्रतीत होता है। स्वयं विद्वान व्याख्याकर्ता ने भी व्याख्या के प्रसंग में 'वाक्य' का ही मीमांसा अर्थ प्रतिपादित किया है।[44]

'महावीरचरितम्' में भी 'वश्यवाचः कंवेः काव्यं सा च रामाश्रया कथा। लब्धश्ल वाक्यनिस्यंदनिष्पेषनिकषो जनः।[45] इस पद्य में अपने आपको वाणी जिसके वश में है, ऐसा वश्यवाक् कहकर वाक्यार्थयर्मज्ञता का प्रकाशन करते हुए महाकवि ने अपने मीमांसानिरूपति वाक्यार्थ वेद्यत्व को भी प्रकट कर दिया है।

'मालती–माधवम्' के प्रथमांक श्लोक है –

यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां साँख्यस्य योगस्य च,
ज्ञानं तत्कथनेन किं न हिततः कश्चिद् गुणो नाटके।
यत्प्रौढ़ित्वमुदारता च वचसाँ यच्चार्थतो गौरवं,
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमंक पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः।।[46]

यहाँ पर महाकवि ने प्रत्यक्ष रूप से यद्यपि वाक्यों की प्रौढ़ता एवं उदारता, अर्थ की गुरूता अर्थात् अर्थनिष्पत्ति की विशेषज्ञता को पाण्डित्य तथा कविकर्म का आधार प्रतिपादित किया है, तथापि प्रकारान्तर से महाकवि इस सम्पूर्ण पद्य में सांख्य, योग आदि समस्त शास्त्रों की तुलना में वाक्यार्थविज्ञानरूप मीमांसाशास्त्र को पाडित्य तथा वैदग्ध्य में विशेष रूप से कारण मानते हुए इस शास्त्र के प्रति अपनी विशेष आस्था प्रदर्शित करते हुए प्रतीत होते हैं।

कुमारिल के स्मारक संदर्भ :

महाकवि भवभूति को मीमांसक उम्बेक के रूप में मन में स्थापित कर अवलोकन करने पर 'मालती माधवम्' के श्लोक में 'कुमारबर्हि0'[47] पद में विद्यमान कुमार शब्द जहाँ कार्तिकेय के साथ महाकवि द्वारा अपने गुरू कुमारिल भट्ट के स्मरण को ध्वनित करता है, वहीं 'कुकुलानाँ राशौ तदनु हदयं पच्यत इव'[48] इस पंक्ति में महाकवि द्वारा तुषाग्नि में धीरे–धीरे जलने

की सुन्दर उत्प्रेक्षा महाकवि को उम्बेकाभिन्न मानने पर उनके गुरू कुमारिलभट्ट द्वारा प्रायश्चित हेतु तुषांग्नि–सेवन की घटना को भी अभिव्यक्ति प्रदान कर रही है।

महाकवि के सरसहृदयाभावर्जक साहित्य के इन संदर्भों के पर्यालोचन से मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि महाकवि भवभूति यदि प्रसिद्ध मीमांसक उम्बेक न भी हों तो भी इतना अवश्य ही कहा जा सकता है, कि इन्हें इस शास्त्र का सम्पूर्ण ज्ञान है तथा इनके अन्तःकरण में वैदिक सिद्धान्तों से साक्षात् सम्बद्ध इस शास्त्र के लिए विशेष आस्था भी है।

संदर्भ :

1. द्रष्टव्य भूमिका, उ.रा.च. (क) पृ. 19 तथा Preface, Malti- Madhava B-Page (XIX) 19.
2. उत्तररामचरितम् भूमिका पृ. 19 एवं मालती माधवम् पृ. 13।
3. मालती माधव सार आणि विचार, पृ. 5
4. उत्तररामचरितम् भूमिका पृ. 18।
5. वही, पृ. 18, 21।
6. U.R.C. Introduction, Page 25-27.
7. भवभूति, पृ. 8।
8. Malti-Madhava, Preface Page XIX.
9. मालती–माधवम्, पृ. 7।
10. महावीर चरितम्, पृ. 4।
11. उत्तररामचरितम् पृ. 87।
12. मालती–माधवम्, पृ. 11।
13. महावीर चरितम्, पृ. 8।
14. वही, पृ. 10।
15. वही, पृ. 11।
16. वही, पृ. 4।
17. वही, पृ. 9।
18. वही, पृ. 15।

19. वही, पृ. 65।
20. वही, पृ. 82।
21. वही, पृ. 92।
22. कन्धारोपितयज्ञ पात्रनिचयाः स्वैवजिपेयज्जिते
श्धत्रैवरियितुं तबार्ककिरणानेते महाब्राह्मणाः।
साकेताः सह सैनिकैरनुपपत्पत्नीगृहीताग्नयः
प्राक्प्रस्थापितहोमधेनव इमेधावन्ति वृद्धा अपि।।
..... महावीरचरितम्, पृ. 79
23. वसिष्ठाधिष्ठिता देव्यो गता रामस्य मातरः।
अरून्धतीं पुरस्कृत्य यज्ञे जामातुराश्रमम्।। .... उ.च. पृ. 9
24. महावीरचरितम्, पृ. 88 तथा उत्तररामचरितम्, पृ. 17।
25. उत्तररामचरितम्, पृ. 108।
26. वही, पृ. 123।
27. वही, पृ. 125।
28. महावीरचरितम्, पृ. 58।
29. उत्तररामचरितम्, पृ. 268।
30. मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
अत्रैव पशवोहिंस्या नान्यत्रेणत्यब्रवीन्मनुः।। ..... मनुस्मृति, 5/45
31. उत्तररामचरितम्, पृ. 325
32. वही, पृ. 454।
33. वही, पृ. 105।
34. वही, पृ. 417।
35. मालतीमाधवम्, पृ. 51 तथा उत्तररामचरितम्, पृ. 413।
36. महावीरचरितम्, पृ. 169।
37. वही, पृ. 70, अंक 3, श्लोक संख्या 35।
38. उत्तररामचरितम्, पृ. 67, अंक 01, श्लोक 35।
39. उत्तररामचरितम्, पृ. 147।
40. पुरा यत्र स्रोतः पुलिमधुना तत्र सरितां

विपर्या सं यातो धनविकलभावः क्षितिरूहाम्।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिवमन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धि द्रढ़यति।।
..... उत्तररामचरितम्, पृ. 147, अंक 2, श्लोक संख्या 27।

41. वही, पृ. 260।
42. वही, पृ. 3। ... मालतीमाधवम्, पृ. 12।
43. उत्तररामचरितम्, आचार्य कपिलदेव द्विवेदी की भूमिका, पृ. 13।
44. प्रस्तुत प्रसंग का अनुवाद, उत्तररामचरितम्, पृ. 4 पंक्ति 13।
45. महावीरचरितम्, पृ. 2, अंक 1, श्लोक संख्या 4।
46. मालतीमाधवम्, पृ. 15, अंक 1, श्लोक संख्या 8।
47. वही, पृ. 2, अंक 1, श्लोक 2।
48. उत्तररामचरितम् पृ. 451, अंक 6, श्लोक संख्या 38।

पूर्व आचार्य
संसकृत विभाग
बी0एच0यू0
वाराणसी

उदयनाचार्य की ईश्वर–सिद्धि–प्रक्रिया

– प्रो0 रघुनाथ गिरि

प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य न तो ईश्वरवादियों के समान ईश्वर की स्थापना एवं ईश्वर साधक तर्कों का समर्थन है, न अनीश्वरवादियों के समान ईश्वर का खण्डन एवं ईश्वरवादी तर्कों का खण्डन करना है और न तार्किक भाववादी एवं विश्लेषणवादी दार्शनिकों के समान ईश्वर के संबंध में स्वीकारात्मक एवं निषेधात्मक वाक्यों की निरर्थकता का विश्लेषण करना है। इस निबन्ध का उद्देश्य ईश्वर सिद्धि प्रक्रिया में निहित उन दार्शनिक समस्याओं का उद्भावना करना है जिन पर तुलनात्मक दर्शन की दृष्टि से विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। उदयनाचार्य की ईश्वर सिद्धि प्रक्रिया में ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिन पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना अपेक्षित प्रतीत होता है। किन्तु प्रस्तुत निबन्ध की परिधि को देखते हुए उन सभी समस्याओं और प्रश्नों पर विस्तार एवं गम्भीरता से विचार करना यहाँ सम्भव नहीं लगता। इसलिये यहाँ उन समस्याओं और प्रश्नों को मात्र उद्भावित कर उन्हें विचार के लिये प्रस्तुत किया गया गया है।

उदयानाचार्य ईश्वर सिद्धि के लिये प्रस्तुत अपनी न्यायकुसुमांजली की प्रस्तावना में यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर की उपासना मोक्ष या अपवर्ग के लिये आवश्यक साधन है।

स्वर्गापवर्गयौर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते।। .... न्या0 पृ0 15/2

उनकी यह मान्यता प्राचीन न्याय की परम्परा के अनुरूप नहीं है क्योंकि गौतम ने अपने प्रथम सूत्र[1] में पदार्थों के तत्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति का स्पष्ट समर्थन किया है तथा द्वितीय सूत्र[2] में दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष मिथ्या ज्ञान के उत्तरोत्तर विनाश को अपवर्ग का मार्ग बतलाया है। ईश्वर की उपासना न्याय परम्परा के प्रतिकूल नहीं है इस बात को स्पष्ट करने के लिये उदयनाचार्य ने इस परमात्मा को वेदानुगामी परम्परा मानकर उपनिषद् वाक्यों से ईश्वर की उपासना को आवश्यक प्रदर्शित किया है

और यह संकेत किया है कि न्याय परम्परा का उदय वैदिक परम्परा के संरक्षणार्थ हुआ है। गौतम ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि वैदिक सिद्धान्तों के रक्षणार्थ ही न्याय दर्शन में जल्पवितण्डा आदि तार्किक प्रक्रियाओं की उद्भावना किया गया है। जिस प्रकार किसी पौधे के संरक्षण के लिये मेड़ और कांटों का घेरा बनाया जाता है, उसी प्रकार वेद प्रतिपादित तत्त्वज्ञान के अंकुर के संरक्षणार्थ तार्किक प्रक्रियाओं का घेरा बनाया गया है।[3]

उक्त प्रस्तावना में उदयनाचार्य ने यह भी स्थापित करने का प्रयास किया है कि ईश्वर जाति, गोत्र, कुल, धर्म आदि के समान सर्वअनुभव सिद्ध है। क्योंकि उपनिषद् परम्परा के लोग ईश्वर को शुद्ध–बुद्ध स्वभाव वाला मानते हैं कपिल दर्शन के अनुयायी उसे सिद्ध एवं आदि विद्वान स्वीकार करते हैं। पतंजलि दर्शन के पोषक क्लेश कर्म, विपाक एवं आशय के संबंध से रहित सम्प्रदाय संचालक एवं अनुग्राहक के रूप में स्वीकार करते हैं। महापाशुपत दार्शनिक लोकवेद से विरूद्ध निर्लेप एवं स्वतन्त्र रूप में उसे मानते हैं। शैव उसे शिव के रूप में, वैष्णव पुरूषोत्तम के रूप में, याज्ञिक यज्ञपुरूष के रूप में, बौद्ध सर्वज्ञ बुद्ध के रूप में, जैन निर्वाण रूप में तथा मीमांसक वेद वाक्यों द्वारा उपास्य रूप में निर्देशित देवता के रूप में चार्वाक लोक व्यवहारदक्ष के रूप में तथा न्यायैकदेशिक उसे युक्तियों से उत्पन्न रूप में यहाँ तक कि सामान्य कारीगर भी उसे विश्वकर्मा के रूप में स्वीकार करते हैं। इसलिये इस प्रकार समस्त लोगों के अनुभव एवं मान्यता से स्वीकृत ईश्वर के विषय में सन्देह का कोई स्थान नहीं है।[4] और सन्देह न रहने के कारण तर्क प्रक्रिया प्रारम्भ करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि न्याय की यह मान्यता है कि तर्कवृत्ति अज्ञात एवं निर्णीत विषय में नहीं होती है अपितु केवल संशय से युक्तविषय में होती है।[5] जब ईश्वर के विषय में कोई सन्देह ही नहीं है तो उसकी सिद्धि के लिये न्याय प्रयोग भी आवश्यक नहीं है। फिर भी न्याय का प्रयोग यहाँ ईश्वर उपासना के रूप में उपस्थित किया गया है क्योंकि श्रुतियों में यह निर्देश है कि श्रवण के बाद मनन आवश्यक होता है। ईश्वर के सम्बन्ध में श्रवण अंग की पूर्ति

श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि से हो जाती है और मनन का कार्य न्याय प्रयोग द्वारा किया जाता है।

इस संदर्भ में विचारणीय समस्या यह है कि किसी न किसी रूप में किसी तत्व को परतत्व स्वीकार कर लेना या उपास्य मान लेना क्या ईश्वर की स्वीकृति मान ली जाय तो कम से कम भारतीय दर्शन में कोई भी दार्शनिक सम्प्रदाय अनीश्वरवादी नहीं रहेगा जबकि स्पष्ट रूप से यह मान्यता है कि चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य एवं मीमांसक अनीश्वरवादी दार्शनिक सम्प्रदाय है।

उदयनाचार्य ने ईश्वर सिद्धि प्रक्रिया में ईश्वर स्थापना के विरूद्ध पाँच मान्यताओं को उपस्थित किया है और उनमें से एक–एक मान्यता का परीक्षण एवं खण्डन न्याय कुसुमांजलि के एक–एक स्तवक में किया है। ये पाँच विप्रतिपत्तियाँ या विरूद्ध मान्यतायें निम्न है।

(1) परलोक का कोई अलौकिक या अदृष्ट साधन नहीं है।
(2) ईश्वर को माने बिना भी परलोक के साधनों का अनुष्ठान संभव है।
(3) ईश्वर के अभाव को सिद्ध करने वाले प्रमाण का अस्तित्व है।
(4) ईश्वर हो भी तो वह प्रामाणिक नहीं है।
(5) ईश्वर को सिद्ध करने वाले प्रमाणों का अभाव है।[6]

इनमें प्रथम विप्रतिपत्ति न्यायदर्शन द्वारा मान्य ईश्वर की अवधारणा के साथ–साथ उसके सम्पूर्ण नैतिक आधार का विरोध करती है। क्योंकि न्याय दर्शन की सम्पूर्ण नैतिकता व्यवस्था में अदृष्ट के व्यवस्थापक के रूप में ईश्वर स्वीकृत है। न्यायदर्शन की मान्यता के अनुसार जीवात्मा में बुद्धि, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न धर्म अधर्म से छह विशेष गुण हैं। इनमें प्रथम चार गुणों को दुष्ट एवं धर्म तथा अधर्म को अदृष्ट या अलौकिक कहा जाता है। इनके आधार पर ही आत्मा के विभुत्व की सिद्धि की जाती है और सुख–दुख आदि भोगों एवं जन्म, मृत्यु के चक्र की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। चूंकि अदृष्ट अचेतन है अतः भोग जो प्रति व्यक्ति भिन्न है, की व्यवस्था, नियमन एवं नियन्त्रण में समग्र नहीं है इसलिए अदृष्ट के अनुसार भोग की व्यवस्था करने के लिए सचेतन, समर्थशाली सर्वज्ञ ईश्वर की

मान्यता स्वीकार की जाती है। प्रथम विप्रतिपति जो यह स्थापित करती है कि परलोक का साधन कोई अदृष्ट नहीं है के स्वीकृत होते ही न्याय दर्शन की समस्त नैतिक व्यवस्था का आधार ध्वस्त हो जाता है। इसलिए उदयनाचार्य ने इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए न्याय कुसुमांजलि के प्रथम स्तवक में अनेक दार्शनिक मतवादों को उपस्थित कर उनका खण्डन दिया है। उनमें से कुछ मतों एवं उनके खण्डन की प्रक्रिया का यहाँ एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

इस विप्रतिपत्ति में दो प्रमुख मतवाद है अपरलोकवाद एवं अकारणवाद या स्वभाववाद जिन्हें चार्वाक द्वारा उपस्थित किया जाता है। अपरलोकवाद में इस जीवन को ही प्रथम एवं अन्तिम जीवन स्वीकार कर लिया जाता है अतः न इसके बाद किसी जन्म या किसी लोक के अस्तित्व का अवसर रह जाता है, और न उसकी स्थापना के लिए किसी अदृष्ट या धर्म, अधर्म का अकारणवाद या स्वभाववाद में कार्यकारण नियम की मान्यता, कार्यकारण सम्बन्ध की नित्यता एवं अनिवार्यता को अस्वीकार करते हुए यह स्थापित करने का प्रयास किया जाता है कि समस्त घटनायें अपने स्वभाव से उत्पन्न होती है और उनके पीछे किसी कारण की शृंखला की खोज एक निरर्थक प्रयास मात्र हैं। क्योंकि कार्य कारण एक कल्पित मान्यता पर आधारित है जिसे अनुभव के आधार पर सिद्ध करना संभव नहीं है।

ये दोनों मान्यतायें न केवल न्यायदर्शन के सिद्धान्तों के आधार को ध्वस्त करती है अपितु परलोक, पुनर्जन्म एवं पुण्य–पाप तथा कार्य कारण संबंध के आधार पर प्रतिष्ठित समस्त दर्शनों को आधारहीन बना देती है। अतः उदयनाचार्य इन दोनों मान्यताओं के खण्डन के लिए अपने तार्किक कुशलता का उपयोग करते हैं। परलोक की स्थापना के लिए उदयनाचार्य परलोक के लिए यज्ञ, याग, सत्कर्म, पुण्यकार्य, तप, स्वाध्याय, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि कर्मों में संलग्न लोगों को उदाहरणार्थ प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि इन लोगों की प्रवृत्ति को निष्फल, निरर्थक अथवा केवल दुखात्म फल देने वाला मान लेना उचित न होगा। क्योंकि प्रवृत्ति

मात्र के प्रति इष्ट साधनता बुद्धि कारण होती है। अर्थात् जब कर्ता यह समझ लेता है कि इस कार्य से मेरी इस इच्छा की पूर्ति होगी तभी वह उस कार्य कर्म या याग को करने के लिए अग्रसर होता है। यदि यह माना जाय कि यज्ञ, तप आदि पुण्य कर्म सम्मान, यश, धन प्रतिष्ठा आदि के लिए किए जाते हैं तो यह मानना भी उचित नहीं है क्योंकि इन दृष्टफलों को न चाहने वाले लोगों को भी ऐसे पुण्य कर्मों में लगा हुआ देखा जाता है। यदि यह कहा जाय कि दूसरों को ठगने के लिए या धोखा देने के लिए ये कर्म किए जाते हैं तो यह कथन भी असंगत लगता है क्योंकि कौन ऐसा लोकोत्तर व्यक्ति होगा जो केवल दूसरों को ठगने के लिए इन कर्मों के लिए नाना प्रकार के कष्ट सहकर इनका स्वयं अनुष्ठान किया होगा और लोगों को इस निरर्थक काम के लिए प्रेरित किया होगा। अतः इन शुभ कर्मों में प्रवृत्ति को ही स्वर्ग आदि परलोक के लिए प्रमाण मानना उचित होगा। इस प्रवृत्ति को हेतु बनाकर अनुमान के द्वारा स्वर्ग आदि परलोक की स्थापना की जा सकती है।[7]

दूसरी मान्यता–अकारणवाद या स्वभाववाद के निराकरण के लिये उदयनाचार्य एक प्रकार की विश्लेषणात्मक पद्धति का आश्रय लेते हैं। वे कहते हैं कारण से कार्य मानने वाले कार्य के सम्बन्ध में यह किससे उत्पन्न हुआ है? प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा रखते हैं किन्तु अकारणवादी यह मानता है कि कार्य 'अकस्मात होता है।' यहाँ उदयनाचार्य 'अकस्मात्' के विश्लेषण करते हुए चार विकल्प प्रस्तुत करते हैं : हेतु का निषेध अर्थात् यह किसी कारण से उत्पन्न नहीं होता है। (2) उत्पत्ति का निषेध अर्थात् यह उत्पन्न नहीं होता है। (3) स्व से अतिरिक्त हेतु का निषेध अर्थात् यह स्वयं उत्पन्न होता। (4) पारमार्थिक हेतु का निषेध अर्थात् यह किसी वास्तविक कारण से उत्पन्न नहीं होता है। और इन चारों विकल्पों के खण्डन के लिए एक हेतु देते हैं अवधि का निश्चित निर्धारित होना। अर्थात् कार्य कभी रहता है और कभी नहीं रहता है यह अनुभव सिद्ध है। यदि वह अहेतुक हो जायेगा तो या तो सदा रहेगा या कभी नहीं रहेगा। सदा रहने वाला नित्य अनुत्पन्न होगा इसलिए कार्य नहीं होगा, कभी भी नहीं रहने

वाला वन्ध्या पुत्र के समान अलीक होगा। इसलिए कार्य ही नहीं होगा।[8] इस प्रकार अकस्मात् शब्द के उक्त चार अर्थों में किसी भी अर्थ को स्वीकार करने पर कदाचित अर्थात् कभी रहने और कभी न रहने की 'संगत व्याख्या सम्भव नहीं है इसलिए स्वभाववाद या अकारणवाद या अकस्मातवाद को स्वीकार करना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार वे स्वभाववाद का खण्डन करते हुए कारणता सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनका कहना है कि कार्य सापेक्ष होता है क्योंकि उसकी अवधि निर्धारित होना ही सापेक्षता के लिए प्रमाण है। जो सापेक्ष नहीं होगा उसकी अवधि निर्धारित नहीं होगी। ऐसा पदार्थ या तो नित्य होगा या अलीक। जो नित्य और अलीक नहीं होगा उसकी अवधि अवश्य ही निर्धारित होगी और जिसकी अवधि निर्धारित होगी वह निर्विवाद रूप से सापेक्ष होगा। सापेक्षता स्वीकार कर लेने पर यह प्रश्न उठता है कि पट आदि कार्य के सापेक्ष मान लेने पर उसकी कारण सामग्री को भी सापेक्ष मानना होगा, पुनः उसके कारण सामग्री और फिर उसके कारण के कारण सामग्री के सापेक्ष मानने पर अनवस्था दोष हो जाएगा और अनावस्था के कारण सापेक्षता की सिद्धि नहीं हो सकेगी। और सापेक्षता सिद्ध न होने से कारणता की सिद्धि नहीं होगी।

इस अनवस्था दोष के विषय में उदयनाचार्य का कहना है कि अनादि परम्परा में अनवस्था दोष नहीं माना जाता है जैसे बीज और अंकुर आदि की परम्परा में अनवस्था दोष आता है किन्तु अनादि अनवस्था को दोष मानने पर बीज से अंकुर होता है इसकी व्याख्या नहीं हो सकती। कहने का तात्पर्य है कि जहाँ समुचित व्याख्या के लिए अन्य कोई उपाय न हो वहाँ अनाअवस्था का दोष नहीं मानना चाहिए। बीज–अंकुर स्थल पर अनादि सम्बन्ध मानकर व्याख्या की जाती है। इसलिए ऐसे स्थल पर अनावस्था को दोष नहीं माना जाता। इसी प्रकार कार्य कारण परम्परा भी अनादि सम्बन्ध पर आधारित है। इसलिये यहाँ अनवस्था को दोष नहीं माना जाएगा।

इस संदर्भ में उदयनाचार्य शक्ति कारणवाद प्रकृतिकारणवाद एवं ब्रह्मकारणवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि संसार में विविधता एवं विभिन्नता की व्याख्या एक कारण मानने से नहीं हो सकती इसलिए विचित्र कार्यों के लिए विचित्र कारणों की शृंखला स्वीकार करनी होगी जो प्रत्येक आत्मा में विद्यमान अदृष्ट ही हो सकता है।

यहाँ एक प्रश्न उठाया गया है कि यज्ञ याग आदि कर्म को ही स्वर्ग आदि फल का कारण क्यों न मान लिया जाय इससे अदृष्ट की कल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी और कार्य कारण का निर्वाह भी हो जाएगा। इस प्रश्न के उत्तर में उदयनाचार्य का कहना है कि कारण को कार्य का अव्यवहित पूर्ववर्ती होना चाहिए। यज्ञ याग आदि जब किए जाते हैं उनके अव्यवहित उत्तर काल में स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति नहीं होती। अतः उनसे उत्पन्न भोग जनक किसी अदृष्ट की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी। ''स्वर्गकामो यजेत'' इस वेद वाक्य के आधार पर यज्ञ करने वाले व्यक्ति को यज्ञ के अव्यवहित उत्तर फल प्राप्ति न होने पर वेद वाक्य की निरर्थकता होगी और यज्ञ आदि कर्मों में स्वर्ग चाहने वालों की प्रवृत्ति भी न होगी। इसलिए यज्ञ अादि को स्वर्ग आदि का साक्षात् कारण न मानकर व्यापारवत् कारण मानना उचित होगा। व्यापार का लक्षण तत् जन्य होते हुए तत् जन्य का जनक होना है। अर्थात् यज्ञ आदि से उत्पन्न अदृष्ट यज्ञ आदि से उत्पन्न वाले स्वर्ग आदि का जनक होता है। इसलिए यज्ञ आदि अदृष्ट द्वारा स्वर्ग के जनक होते हैं। जैसे दण्ड घट का चक्र में भ्रमी के द्वारा जनक होता है। यहाँ उदयनाचार्य यह भी स्पष्ट करते हैं कि भोग स्वर्गादि में संस्कार मान लेने से भी काम नहीं चलता क्योंकि भोग सर्वसाधारण है वे किसे मिले और किसे न मिले इसका निर्धारण नहीं हो सकेगा अतः भोग को आकृष्ट करने तथा कर्ता को ही भोग प्राप्ति की व्यवस्था करने के लिए अदृष्ट को आत्मगत मानना ही अधिक न्याय संगत होगा। इसी प्रसंग में उदयनाचार्य देहात्मवाद, क्षणिकात्मवाद, सचातात्मवाद, एकात्मवाद, अणु–आत्मवाद आदि का खण्डन करते हुए नित्य–अनेक–विभु आत्मवाद की स्थापना करते हैं।

द्वितीय विप्रतिपत्ति मीमांसकों के द्वारा स्थापित की गयी है। इस विप्रतिपत्ति में ईश्वर के बिना भी परलोक साधनों के अनुष्ठान की स्थपना की है। इसमें यज्ञ याग आदि परलोक साधनता, परलोक की मान्यता और कार्य कारणता तो स्वीकृत है किन्तु ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसमें वेदों की अपौरूषेयता संसार की अनादिता, महाजनपरिग्रह के कारण वेदों की स्वतः प्रामाणिकता तथा कर्म की फलवत्ता की स्वतः प्रामाणिकता तथा कर्म की फलवत्ता की स्वतः अपरिहार्यता स्वीकार कर ली जाती है। वेदों की अषैरूषेयता के लिए शब्द की नित्ययता एवं विधा की गुरूपूर्वकता मुख्य आधार है। मीमांसकों का कहना है कि तालुदन्त, जिह्वा, ओष्ठ आदि के अभिघात से शब्द की उत्पत्ति नहीं होती अपितु अभिव्यक्ति होती है। शब्द की उत्पत्ति मानने पर उच्चारण एवं उच्चारयिता के भेद से शब्द में भेद मानना पड़ेगा किन्तु एक व्यक्ति के द्वारा भिन्न–भिन्न काल में विभिन्न स्वरों में अर्थात् कभी मन्द, कभी मध्यम, कभी तीव्र और विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न या एक समय में अनेक स्वरों में घट–पट आदि शब्दों के उच्चारण में भेद होना स्वाभाविक है। यदि उच्चारण से शब्द की उत्पत्ति होती तो भिन्न उच्चारणों से भिन्न शब्दों की उत्पत्ति होती किन्तु भिन्न–भिन्न उच्चारणों से एक ही शब्द उत्पन्न होता है और एक ही अर्थ का बोध कराता है। इसलिए शब्द की उत्पत्ति मानना न्यायसंगत नहीं है। शब्द को नित्य मानना ही उचित है। और उच्चारण से शब्द की अभिव्यक्ति मात्र मान लेने से इस कठिनाई का निवारण हो सकता है। दूसरी ओर मानव जो कुछ वाक्य प्रयोग करता है वह किसी गुरू से सुनकर ही करता है। इस प्रकार वेदों को गुरू परम्परा से सुनने के कारण श्रुति कहा जाता है। इसमें गुरू परम्परा का कभी उच्छेद नहीं होता इसलिए वेदों को अनादि एवं नित्य मानना होगा। चूँकि वेदों की मान्यता शिष्टों द्वारा स्वीकृत है इसलिए इसकी प्रमाणिकता भी स्वतः सिद्ध है। साथ ही साथ यह संसार भी अनादि है। इसलिए इसके कर्ता की कोई आवश्यकता नहीं है। इस अनादि संसार में वेदों की स्वतः प्रामाणिकता के आधार पर वेद विहित कर्मों के अनुष्ठान संभव है और इन कर्मों में फल उत्पन्न करने की

अनिवार्यता अपूर्व द्वारा फल से कर्ता की प्रतिबद्धता भी सिद्ध है। इसलिए जगत् के कर्ता तथा अदृष्ट के अधिष्ठाता ईश्वर को माने बिना भी यज्ञ आदि का अनुष्ठान और स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति की व्याख्या सम्भव है।

मीमांसकों की इस मान्यता का खण्डन उदयनाचार्य न्याय की मान्यता के आधार पर करते हैं उनका कहना कि वाक्यार्थ बोध के लिए आकांक्षा आसक्ति, योग्यता और तात्पर्य का ज्ञान आवश्यक है। वेदवाक्यों से होने वाला बोध भी वाक्यार्थ बोध है अतः इसमें तात्पर्य ज्ञान के लिए प्रथम उच्चारयिता को स्वीकार करना पड़ेगा। कोई भी प्रमा (यथार्थ ज्ञान) स्वतः उत्पन्न नहीं होता है। किन्तु कारण के गुण से उत्पन्न होता है। शब्द से उत्पन्न होने वाली प्रमा भी प्रमा होने से कारण के गुण से उत्पन्न होगी। यहाँ करण का गुण होता है वक्ता के वाक्यार्थ का यथार्थ ज्ञान। क्योंकि यदि वक्ता को वाक्य के अर्थ का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा तो श्रोता को उस वाक्य से यथार्थ ज्ञान होना संभव नहीं है। इसलिए वेदों को पौरूषेय मानना होगा। इनकी दूसरी आपत्ति सर्ग–प्रलय को लेकर है। उत्पत्ति, वृद्धि, विकास, ह्रास, विनाश का क्रम अनुभव सिद्ध है और शास्त्र मान्यता के आधार पर भी सर्ग प्रलय स्वीकृत है। खण्ड प्रलय के आधार पर महाप्रलय की स्थापना अनुमान द्वारा भी संभव है। जन्म, संस्कार, शक्ति, विद्या, स्वाध्याय, कर्म आदि के विषय में सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग आदि युगों का भी ह्रास देखा जाता है। अतः इस ह्रास के आधार पर वेद आदि सम्प्रदाय का भी ह्रास मानना ही न्याय संगत है। इससे यह स्थापित होता है कि प्रलय में वेदादि सम्प्रदाय का विनाश हो जाता है। अतः सर्ग के प्रारम्भ में वेदों को प्रवृत्त करने के लिये सर्वज्ञ ईश्वर की आवश्यकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि सर्ग आदि में कपिल आदि ऋषि ही वेद सम्प्रदाय के प्रवर्तक होते हैं तो इन ऋषियों को भी सर्वज्ञ मानना होगा क्योंकि अल्पज्ञ के कथन में आस्था न होने के कारण उसकी प्रामाणिकता नहीं रहेगी। इस प्रकार अनेक सर्वज्ञ मानने की अपेक्षा एक सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ ईश्वर को मान लेने में कल्पना लाघव भी है।[10]

तृतीय विप्रतिपति ईश्वर के अभाव को सिद्ध करने के लिए प्रमाण प्रस्तुत करती है। अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण मानने वाले भाट्ट मीमांसक तथा अनुपलब्ध को अनुमान के लिए एक हेतु मानने वाले बौद्ध तार्किक दोनों की ओर से यह पक्ष उपस्थिति किया जाता है कि जिस प्रकार घट के अभाव की सिद्धि घट की अनुपलब्धि के द्वारा होती है इसी प्रकार ईश्वर के अभाव की सिद्धि भी ईश्वर की अनुपलब्धि के द्वारा मानना न्यायसंगत है। यह मत यह भी स्थापित करना चाहता है कि ईश्वर के संदर्भ में योग्य, अनुपलब्धि को ईश्वर के अभाव का ग्राहक मानना उचित नहीं है क्योंकि योग्य प्रतियोगी के स्थल में ही अभाव ग्रहण के लिए योग्य अनुपलब्धि को प्रमाण माना जाता है। अयोग्य प्रतियोगी के अभाव ग्रहण के लिए भी यदि योग्य अनुपलब्धि को प्रमाण माना गया तो ईश्वर अभाव के समान शशशृंग का अभाव भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। जब ईश्वर को मानने वाले शशशृंग के अभाव को तो अवश्य स्वीकार करेंगे।

इस आक्षेप का उत्तर देते हुए उदयनाचार्य का कहना है कि प्रथम तो अनुपलब्धि न कोई स्वतन्त्र प्रमाण है और न अभाव के अनुमान के लिए सक्षम हेतु है। क्योंकि अभाव का ग्रहण प्रतियोगी के ग्रहण करने वाले साधनों से ही सम्भव है। जैसे चक्षु द्वारा पुरूष में गन्ध की उपलब्धि न होने से पुरूष में गन्धाभाव का अस्तित्व मानना उचित नहीं है। जब कभी अनुपलब्धि के आधार पर अभाव का ग्रहण होता है तो वहाँ योग्य अनुपलब्धि को ही अभाव का ग्राहक माना जाता है। अनुपलब्धि में योग्यता का अर्थ होता है प्रतियोगी या उसके व्याप्य से इतर यावत् उपलब्ध सामग्री का समाधान। गन्धाभाव के ग्रहण के लिए गन्ध से इतर उपलब्ध सामग्री में प्राण का सम्बन्ध अपेक्षित है। इसलिए ईश्वर के सम्बन्ध में ईश्वर की जो अनुपलब्धि है उसमें योग्यता नहीं है। क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष बैध वस्तु नहीं है इसलिए प्रत्यक्ष के साधनों से उपलब्ध न होने मात्र से ईश्वर का अभाव मान लिया जाय तो आकाश, धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का भी लोप हो जाएगा। शशशृंग के अभाव के आधार पर ईश्वर के अभाव की स्थापना की प्रक्रिया संगत नहीं है, क्योंकि शश में शृंग का अभाव है और

उसके ग्रहण करने वाली अनुपलब्धि है। किन्तु शशशृंग की अनुपलब्धि के आधार पर उसका अस्तित्व स्थापित नहीं होता अपितु शशशृंग इस पद समूह में योग्यता न होने के कारण इसे निरर्थक कहा जाता है। न तो शशशृंग भाव है और न अभाव अपितु एक निरर्थक शाब्दयोजना है। अभाव को भी न्याय वैशेषिक दर्शन पदार्थ मानता है। पदार्थ का अर्थ पद वाच्यता होती है। और अभाव की पद वाच्यता इस आधार पर सिद्ध होती है कि अभाव का अभाव प्रतियोगी स्वरूप होता है और प्रतियोगी भाव रूप होता है। इसलिए उन्हीं वस्तुओं का अभाव पदार्थ होगा जिनका भाव होना सिद्ध होगा जो भाव ही नहीं उसका अभाव भी नहीं हो सकता है। इसलिए न्याय यह स्थापित करता है कि अलीक प्रतियोगिक अभाव नहीं होता। अभाव बोध वही संभव है। जहाँ प्रतियोगिक अभाव नहीं होता। अभाव बोध वही संभव है। जहाँ प्रतियोगी स्वीकृत हो और अनुपलब्धि वही अभाव ग्रहिका है जहाँ प्रतियोगी को ग्रहण करने के लिए अपेक्षित समस्त सामग्रियों का समवधान हो। इसलिए ईश्वर के सम्बन्ध में अनुपलब्धि योग्य नहीं है और अयोग्य अनुपलब्धि से ईश्वर के अभाव नहीं सिद्ध किया जा रहा है अपितु ईश्वर में कर्तृत्व का अभाव अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा रहा है क्योंकि कर्तृत्व का व्यापक शरीरित्व है अर्थात् जो कर्ता होता है वह शरीरधारी होता है। ईश्वर शरीरधारी नहीं है। इसलिए वह कर्त्ता भी नहीं है तो यह भी कथन संगत नहीं है क्योंकि इस अनुमान में पक्षाप्रसिद्धि दोष है। अनुमान में पक्ष को सिद्ध होना चाहिए जहाँ पक्ष नहीं सिद्ध होगा वहाँ अनुमान आश्रयासिद्धि दोष से ग्रस्त होने के कारण अपने साध्य को सिद्ध नहीं कर सकेगा।[11]

चतुर्थ विप्रतिपति में यह स्थापित किया जाता है कि यदि ईश्वर हो भी तो वह प्रमाण नहीं है। क्योंकि प्रमाण या प्रामाणिक होने के लिए प्रमा (प्रज्ञा) ज्ञान का कर्ता या करण होना आवश्यक है और प्रमा वह ज्ञान है जो अगृहीतग्राही हो अर्थात् वह ज्ञान प्रमा है जिसका विषय पहले से ज्ञात न हो। अज्ञात विषय के ज्ञान के लिए ही ज्ञाता साधनों का उपयोग करता है। विषय के ज्ञात होने पर ज्ञाता को उसके पुनः जानकारी का प्रयास

निरर्थक व्यापार है। इसलिए वह ज्ञाता है और न इसके लिए किसी साधन के प्रयोग की अपेक्षा है। चूँकि ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं। अतः सर्वज्ञ का ज्ञान अगृहीतग्राही नहीं हो सकता। यही दशा नित्य ज्ञान की भी है। ऐसी स्थिति में ईश्वर का ज्ञान अगृहीतग्राही न होने के कारण प्रमा ज्ञान नहीं है। और ईश्वर के ज्ञान को प्रमा न होने के कारण ईश्वर न प्रमा ज्ञान कर्ता (ज्ञाता) है और न प्रमा का साधन। प्रमा के कर्ता या साधन न होने के कारण वह न प्रमाण है न प्रमाणिक। इस प्रकार अप्रमाणिक ईश्वर यदि रहे भी उसके रहने से किसी को कोई लाभ नहीं है, क्योंकि अप्रमाणिक व्यक्ति के प्रति न किसी की श्रद्धा होगी और न उसके वचनों पर किसी को विश्वास। इस प्रकार वह अत्यन्त उपेक्षणीय होकर ही रह जाएगा। यह स्थापना उन दार्शनिक सम्प्रदायों की ओर से की जाती है जो ज्ञान के प्रमा होने के लिए अज्ञात विषयक होना अनिवार्य शर्त मानते हैं।

उक्त विप्रतिपति का निराकरण करते हुए उदयनाचार्य का कहना है कि अगृहीतग्राही होना प्रमा का लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि इस लक्षण में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोष हैं। प्रमा के यह लक्षण मानने पर धारावाहिक ज्ञान वह प्रमा नहीं रह जाएगा क्योंकि द्वितीय, तृतीय क्षण में यह प्रमा है। उसमें प्रमा का लक्षण घटित न होने के कारण लक्षण अव्याप्त हो जाएगा। साथ ही साथ स्मृति ज्ञान भी प्रमा नहीं रहेगा क्योंकि स्मृति तो अनुभव के प्रमा होने पर प्रमा होती है किन्तु उसका विषय अज्ञात नहीं होता है अपितु पूर्वज्ञात विषयक ही रहता है। दूसरी ओर यह लक्षण ''इदं रजतम्'' इस भ्रम ज्ञान में अतिव्याप्त भी हो जाएगा, क्योंकि भ्रम का विषय भी पूर्वज्ञात नहीं रहता है। इस आधार पर अज्ञात विषयक होना प्रमा का लक्षण नहीं माना जा सकता। वास्तव में प्रमा का लक्षण सम्यक् होना है या यथार्थता है। यथार्थ ज्ञान ही प्रमा है। ईश्वर का ज्ञान तो सदा यथार्थ होता है। इसी प्रकार प्रमाता होने के लिए यथार्थ का कर्ता होना आवश्यक नहीं है अपितु यथार्थ ज्ञान वाला होना मात्र अपेक्षित है। अतः नित्य यथार्थ ज्ञान वाला ईश्वर प्रमाता होने के कारण प्रमाण्य है। प्रमाण होने के लिए प्रमा का कर्ता या कारण होना आवश्यक नहीं है। ईश्वर को प्रमाण मानने पर न्याय

मत में पाँच प्रमाण मानने की आपत्ति नहीं आएगी, क्योंकि प्रमाणों का विभाग प्रमाकरण के रूप ही किया गयाा है।[12]

पंचम विप्रतिपति है कि ईश्वर की स्थापना में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि रूपादि सम्पन्न न होने के कारण ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अन्वय या व्यतिरेक के द्वारा ईश्वर के साथ व्याप्ति गृहीत न होने के कारण अनुमान द्वारा भी उसकी सिद्धि संभव नहीं। सादृश्य ज्ञान न होने के कारण उपमान द्वारा भी उसका ज्ञान नहीं हो सकता। विषय के साक्षात्कार करने के पश्चात् यथार्थ वक्ता के ही वचन शब्द प्रमाण होते हैं। ईश्वर अपरिमेय है अतः उसका सम्पूर्ण साक्षात्कार होना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में उसके विषय में बताने वाला आप्त नहीं हो सकता और आप्त न होने के कारण उनके वचन शब्द प्रमाण नहीं हो सकते। इस तरह ईश्वर साधक कोई प्रमाण नहीं है।

इस विप्रतिपति का निराकरण करते हुए उदयनाचार्य अनुमान और शब्द प्रमाण द्वारा ईश्वर की स्थापना करते हैं। अनुमान के लिए उन्होंने जो हेतु उपस्थित किये है,[13] उसमें से चार जगत् से सम्बन्धित है अर्थात् जगत् कार्य है इसलिए उसके कर्ता के रूप में ईश्वर सिद्ध होता है। आयोजन अर्थात् जगत् के निर्माण के लिए आवश्यक कारणों का संकलन एवं प्रथम क्रिया का संचलन एक सचेतन द्वारा संभव है। इसी प्रकार जगत् के धारण एवं विनाश के आधार पर भी धारक एवं विनाशक के रूप में ईश्वर की सिद्ध होती है। इसी तरह चार हेतु वेद से सम्बन्धित है पद, प्रत्यय, श्रुति और वाक्य। पद का प्रयोग व्यवहार होता है अतः सृष्टि के आरम्भ में पद के व्यवहार संचालक के रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है। प्रत्यय का अर्थ है ज्ञान या प्रमाण वेद वाक्यों की प्रामाणिकता सर्वज्ञ के द्वारा उच्चारित होने के कारण है। श्रुति के निर्माता के रूप में भी ईश्वर की सिद्ध होती है क्योंकि वेद पौरूषेय है। और वेद वाक्यों में जिसका तात्पर्य निहित है वह ईश्वर है। इस प्रकार इन चार हेतुओं से भी ईश्वर की सिद्ध होती है। इन हेतुओं में एक हेतु उदयनाचार्य ने न्याय की मान्यता के आधार पर दिया है संख्या विशेष को अभिव्यक्त करने के लिए न्याय दर्शन की दो

पूर्वमान्यताओं को स्पष्ट करना आवश्यक है। न्याय की एक पूर्व मान्यता है कि परमाणु का परिमाण किसी परिमाण का कारण नहीं होता।[14] क्योंकि परिमाण जब कारण होता है तो अपने से तर या तम परिणाम को उत्पन्न करता है। ऐसी स्थिति में अणु परिमाण को कारण मानने पर उत्पन्न परिमाण को अणुतर या अणुतम मानना पड़ेगा, जो तर्कसंगत नहीं होगा। अतः दो परमाणुओं से निर्मित द्वचणुक के परिमाण के लिए परमाणु के परिमाण को कारण न मानकर परमाणु गत द्वित्व संख्या को कारण माना जाता है। यहाँ एक दूसरी पूर्व मान्यता यह है कि सभी पदार्थों में एकत्व संख्या स्वतः सिद्ध है। किन्तु द्वित्वआदि संख्या अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है। अर्थात् कोई भी वस्तु स्वतः दो नहीं होती गिनने वाले की गिनती से एक–एक की अपेक्षा से दो होती है। सृष्टि के प्रारम्भ में द्वयणुक के परिमाण के जनक परमाणुगत द्वित्व संख्या जिस चतेन की अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है वह ईश्वर ही हो सकता है। इस प्रकार संख्या विशेष अर्थात् द्वयणुक के परिमाण का जनक परमाणुगत द्वित्व संख्या के आधार पर भी ईश्वर की सिद्धि होती है।

उदयनाचार्य ने अपने साधक तर्कों के विरूद्ध लगायी जाने वाली समस्त आपत्तियों का निराकरण करते हुए यह दिखलाने का प्रयास किया है कि उक्त हेतु सद्हेतु है इनमें व्यभिचार, बाध्य, विरोध, सत्यप्रतिपक्ष आदि कोई दोष नहीं है। अतः इनके द्वारा ईश्वर की सिद्धि संभव है।

ईश्वर सिद्धि की प्रक्रिया में उदयनाचार्य ने जिन मुख्य बिन्दुओं का संकेत किया है उनमें से कतिपय बिन्दुओं को यहाँ उपस्थित किया गया है। इन बिन्दुओं की व्याख्या, परीक्षा, समीक्षा एवं मूल्यांकन इस निबन्ध की परिसीमा में संभव नहीं हो सका है, जिसके लिए विद्वान पाठकों से मैं क्षमा चाहता हूँ। इस निबन्ध का उद्देश्य भी विचारार्थ दार्शनिक बिन्दुओं को प्रस्तुत करना मात्र था, जिससे इन पर विभिन्न पक्षों एवं दृष्टियों से विद्वानों के बीच विचार किया जा सके।

सन्दर्भ :

1. प्रमाण–प्रमेय, संशय–प्रयोजनदृष्टान्त सिद्धान्तावयव– तर्कः निर्णय वाद–जल्प–वितण्डा हेत्वाभासच्छल–जाति–निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निः –श्रेयसाधिगमः।
..न्याय सूत्र, 1/1/1
2. दुःख जन्य–प्रवृत्ति दोष मिथ्या ज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरा पायादपवर्गः। ... वही, 1/1/2
3. तत्त्वाध्यवसाय संरणार्थ जल्पवितण्डे।
बीज प्ररोहसंरणार्थ कण्टक शाखा वरणवत्। ... वही, 4/2/50
4. इह यद्यपि यं कमपि पुरूषार्थमयमानाः शुद्धबुद्धस्वभाव इत्यौयनिषदाः, आदि विद्वान् सिद्ध इति कापिलाः, क्लेशकर्म विपाकाशयेरपरामुष्टो निर्माण कायमधिष्ठाय–सम्प्रदाय प्रद्योतकोअनुग्राहकश्चेति पातंजला, लोकवेदविरूद्धैरपि निर्लेपः स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपताः, शिव इतिशैवाः, पुरूषोत्तम इति वैष्णवाः, पितामह इति पौराणिकाः यज्ञपुरूष इति याज्ञिकाः, सर्वज्ञ इति सौगताः; निरावरण इति दिगम्बराः, उपास्यत्वेन देशिता इति मीमांसकाः, लोकव्यवहार सिद्ध इति चार्वाकाः, याक्दुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः, किं बहुना यं कारवोऽपि विश्वकर्मेति उपासते, तस्मिन् एव जातिगोत्र प्रवरचरण कुलधर्मादि वदासंसारं सुप्रसिद्धानुभवे भगवति भवे संदेह एव कुतः। ....
न्या0 कु0 अवतरिणा, 1/3
5. तत्र नानुपलब्धे न निर्णीते अर्थे न्यायः प्रवर्तते किं तर्हि? संशयितेऽर्थे।
..... न्यायभाष्य, 1/1/1
6. तदिह संक्षैपतः पंचतीय विप्रतिपन्ति :–
(1) अलौकिकस्य परलोक साधनस्याभावात्।
(2) अन्यथापि परलोक साधनानुष्ठान संभवत्।
(3) तदभावावेदक प्रमाण सद्भावात्।
(4) सत्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात्।
(5) तत्साधक प्रमाणाभावात्।

7. विफला विश्ववृत्तिर्नो न दुःखेकफलापि वा।
दृष्ट लाभ फला वाऽपि विप्रलम्भोपि नेदृशः।
8. हेतु भूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्नेव च।
स्वभाव वर्णना नैवमवधेः नियतत्वतः।
9. विरध्वस्तं फलायासं न कर्मातिशयं विना।
सम्भोगो निर्विशेषाणां न भूतैः संस्कृतेरपि।।
10. प्रमाया परतन्त्रत्वात् सर्गप्रलयसंभवात् ।–2/1
तदन्यस्मिन् अविश्वासात् न विद्यान्तर संभवः।
जन्म संस्कार विद्यादेः शक्तेः स्वाध्याय कर्मणोंः।
ह्रास दर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्यमीयताम् ।–2/3
11. योज्यादृष्टिः कुतोऽयोग्ये प्रतिबन्धिः कुतस्तराम्।
क्वायोग्यं बाध्यते शृंगं क्वानुमानमनाश्रयम्।।
12. अप्रोपूरधिकप्राप्तेरलक्षणमपूर्वद्क।
यथार्थो अनुभवो मानमनपेक्षतयेष्येते।।
मितिः सम्यक् परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते।
13. कार्यायोजन धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्या विशेषाच्च साध्यौ विश्वविदव्ययः।
14. पारिमण्डत्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहतम्।
परिमाणो परिमितिः पारिमण्डल्यमुच्यते।

पूर्व अध्यक्षः दर्शन विभाग
काशी विद्यापीठ,
वाराणसी।

देवभाषा संस्कृत : वर्तमान उपयोगिता

– महामहोपाध्याय डॉ0
वागीश शास्त्री

चिरनवीनता का रहस्य :

विश्व संस्कृतियों में पुरातनतम होते हुए भी भारतीय संस्कृति की नवीनता अध्यावधि प्रतिष्ठित है। देवभाषा में निबद्ध वैदिक वांगमय विश्वजनीन वांगमय में पुरातनतम है। देवभाषा संस्कृत वांगमय न केंवल भारतीय अपितु एशियाई संस्कृति का भी मूलाधार है। देवभाषा की चिरनवीनता का रहस्य है– उसकी कूटस्थता, उदारता और नम्यता। इसकी चिरनवीनता के राज (<रहस्य) के विषय में किसी के ह्रदयस्पन्दन का उद्गार इस प्रकार प्रस्फुटित हुआ है–

यूनान, मिस्र, रोमा सब मिट गये जहाँ से।
कुछ राज है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।।

उदारता :

यह सत्य है कि यूनान (ग्रीस), मिस्र (ईजिप्ट) और रोम देश की संस्कृतियाँ काल के गाल में समाकर स्मृति शेष बनकर रह गई है। फारस (ईरान) और मेसोपोटामिया (ईराक) देशों को संस्कृतियाँ अपनी ही माटी से उन्मूलित हो चुकी हैं। पारसियों को अपने धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' के साथ फारस से भागकर महाराष्ट्र और गुजरात में शरण लेनी पड़ी। वे परिवर्तन की आँधी को झेल न सकीं। पारसी संस्कृति का 'टाटा' नामक पौधा भारत की माटी में ही पनपा, फूला और फला। यह है उदारता और शरणागत वत्सलता संस्कृत–संस्कृति की। ईरान के शाह को अपनी धमनियों में प्रवहमान पारसी रक्त की अनुभूति हुई। वह स्वयं को न रोक सका फारस की प्राचीन 'मिहिर' उपाधि धारण करने से। किन्तु अनुदार संस्कृति के कर्णधारों ने उसे उद्वासित कर दिया उसके अपने ही देश से। 'फारसी 'मिहिर' का उत्स है ईरान के प्राचीन धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' का ''मिथ्र'' देवता में। मिथ का मूल सन्निहित है संस्कृत–संस्कृति के सूर्यवाचक मित्र देवता में। संस्कृत–संस्कृति के अविच्छिन्न शाखामूल ईरान (शाकस्थान) तक फैले

थे। उसकी शाखाओं की हरीतिमा तो पश्चिमी एशिया को लाँघकर यूरोप तक छा गई थी।

वटवृक्ष :

क्रिश्चियन संस्कृति की मूलवाणी (ओल्ड टेस्टामेंट) हिब्रूभाषा में संस्कृत संस्कृति के तत्त्व विद्यमान है। उनके साथ देवभाषा संस्कृत के सम्बन्ध में प्राकृत संस्कृत सम्बन्धों की झलक मिलती है। निम्नलिखित उदाहरण मननीय है–

संस्कृत – स्वर झ हबरा –हिब्रू; संस्कृत –सप्त झ सबाथ –हिब्रू

संस्कृत – घट झ कड –हिब्रू; संस्कृत –घटकार झ कडार –हिब्रू

संस्कृत – यह्वः झ यह्वे झ जेहोबा –हिब्रू

यूरोपीय भाषाओं के निर्वचन की गुत्थी सुलझाने में संस्कृत की अनन्य साधारण भूमिका उस समय स्वीकृत करनी पड़ी थी, जिस समय न्यायमूर्ति सर विलियम जोन्स् (मृत्युकाल सन् 1794) ने संस्कृत वांगमय से यूरोप को परिचित कराया। इसी के पश्चात् वहाँ विधिवत् संस्कृत का अनुशीलन प्रारम्भ हुआ। तुलनात्मक धर्म ओर दर्शन को गति मिली। भारत की सभ्य देशों में गणना होने लगी।

संस्कृत–संस्कृति की वटवृक्षच्छाया में अन्य संस्कृतियों के संसारनिदाघताप संतप्त अनुयायियों को आश्रय मिला। भले ही उनके समानधर्मा बन्धु इस वटवृक्ष की पत्ररशि के अपलुंचन में अभिरूचि रखते रहे हों या फिर इसकी फलसंपत्ति अथवा शाखा–प्रशाखाओं के बिलुण्ठन या विच्छेदन में कृतसंकल्प बने रहे हों, सभी को संस्कृत–संस्कृति ने 'अतिथिदेवो भव' का स्मरण कर गले लगाया। गंगा की पवित्र धारा में संगमित सभी सहायक नदियों का जल गंगाजल बन जाता है, उसी प्रकार संस्कृत–संस्कृति की पवित्र धारा में संगमित सभी संस्कृतियों की संस्कृत–संस्कृति के साथ रूकरूपता होती गई। भास्वर भास्कर की तेजस्वी प्रकाशकिरणों की भाँति ज्ञान–किरणों को दिग्दिगन्त में विकीर्ण कर अज्ञान–तिमिर निकर का निराकरण करती आई है भगवती संस्कृत–संस्कृति।

संस्कृत–संस्कृति वटवृक्ष की शाखाओं के रूप में उगे वैष्णव, शैव, शाक्त दर्शनों तथा किसलय–प्ररोहों के रूप में उद्गत पालि (बौद्ध दर्शन), पाकृत (जैन दर्शन), अपभ्रंश (तन्त्र) तथा प्रादेशिक भाषाओं (सन्त दर्शनों) ने पीड़ित मानवता को शान्ति प्रदान करने हेतु अनन्य–साधारण उपासना–पद्धतियों के उपायन उपहृत किये। विश्वजनीन संत्रस्त मानवता त्राण पाने हेतु संस्कृत–संस्कृति की शरणागत बनने के लिए लालायित रही आई है। अनिवर्चनीय है संस्कृत–संस्कृति की शरणागत–वत्सलता, उदारता, नम्यता और उर्वरता।

नम्यता :

बर्बर आँधियों के वात्याचक्रों में पड़कर अकड़ी खड़ी संस्कृति वृक्षावलियाँ उखड़कर नामशेष रह गई, जबकि दूर्वोपम संस्कृत–संस्कृति आज द्विगुणित होकर संसार को शीतलता प्रदान कर रही है। विश्वजनीन संस्कृतियाँ अपने आधार तत्वों के रहस्य की गवेषणा करने के लिए संस्कृत–संस्कृति में अनुरक्त हो रही हैं। बर्बर तीव्र नदी प्रवाह ने सीना ताने खड़ी विशाल पादपरूपी अनेक संस्कृतियों को उन्मूलित कर अपनी जलधाना में प्रवाहित कर दिया, जबकि बैत्तसी नम्यता की अनुकारिणी संस्कृत–संस्कृति को वह नहीं बहा सका।

अजस्र श्रोतस्कता :

संस्कृत की कूटस्थता, शाश्वत सत्ता अथवा नित्यता निर्विवाद है। परमात्मा की भाँति संस्कृत के भी आदि और अन्त का निर्धारण करना कठिन कार्य है। वह भारतीय भाषाओं की आज भी प्रेरणास्रोत बनी हुई है। इस नवीन वैज्ञानिक युग के दिनानुदिन नित नूतनता में पले पारिभाषिक शब्दों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद संस्कृति की शरणागति से ही सम्भव हो पा रहा है। संस्कृत पुरातनतम होते हुए आज भी युवती है। अनेक पुत्रियों, पौत्रियों और प्रपौत्रियों को जन्म देने के पश्चात् यह आज भी चिरयुवती बनी हुई है और अपनी सन्तानों का पोषण कर रही है। संस्कृत कल्पवृक्ष है। इससे जिसने जो कामना की, उसे उसने प्राप्त कर लिया।

संस्कृत कामधेनु है। परवर्ती भाषाएँ संस्कृत से आज शब्दामृत का दोहन कर स्वयं को प्रपुष्ट बनाने में तल्लीन हैं।

जीवन्तता :

संस्कृत अमर भाषा है। आज विश्व की प्राचीन भाषाओं में साहित्यसर्जन की धारा अवरूद्ध हो चुकी है। यही कारण है कि तद्देशीय नागरिक ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं को मृतभाषा कहने लगे हैं। किन्तु भारतीय और नेपाल देशों में आज भी देवभाषा सामयिक विषयों पर साहित्यिकसर्जना प्रवर्तमान है। संस्कृत भाषा की दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक और त्रैमासिक पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है। सर्वत प्रथम जर्मनी देश की आकाशवाणी (दायचे वेले) से संस्कृत समाचार का प्रसारण प्रारम्भ हुआ था। उसके अनुकरण पर भारतीय शासन ने भी भारतीय आकाशवाणी से प्रातः और सायंकाल संस्कृत समाचारों का प्रसारण प्रारम्भ किया।

संस्कृत की जीवन्तता भारतीय जीवन के दैनन्दिन क्रियाकलाप में आज भी परिलक्षित हो रही है। चाहे अशान्त जीवन में शान्ति भर देने वाले स्तोत्र हों या प्रार्थनाएँ, यज्ञ–यागादि का वैदिक मन्त्र पाठ हो या पौराणिक पूजापाठ, जीवन को चैतन्यमय बनाने वाले सोलह संस्कारों में उपनयन संस्कार हो या समावर्तन संस्कार, वैवाहिक संस्कार हो या फिर अन्त्येष्टि संस्कार– संस्कृत मन्त्रों के गान से गुंजरित वायुमण्डल अनाहत नाद परिपूरित दिव्य किरणें बिखेरता रहता है। आज पर्यावरण रक्षा के लिए प्रचुर प्रचार किया जा रहा है। संस्कृत–संस्कृति के अनुसार वृक्षों से देवता निवास की मान्यता होने के कारण उन्हें हानि पहुँचाना वर्जित है। इष्टापूर्व में पुण्यप्राप्ति निर्दिष्ट है। तुलसीपत्र तोड़ने के लिए मन्त्र का विधान है। दालैन तोड़ने की विधि का निर्देश है। पादपों को अनावश्यक रूप से क्षतिग्रस्त करने का शास्त्रों में निषेध है। पंचमहाभूतों में देवत्व की प्रतिष्ठा मानी गई है। गंगातीर या गंगाजल को दूषित करने वाले व्यक्ति को करोड़ों वर्षों तक नरक मिलने की जो चेतावनी पुराणों में हजारों वर्ष पूर्व दी गई थी, आज वर्तमान काल में उसकी उपयोगिता शत गुणित बढ़ गई

है। जनता देवभाषा संस्कृत में लिखित निर्देश को शासकीय आदेशों की अपेक्षा अधिक मान्यता प्रदान करती है।

राष्ट्र की एकता और अखण्डता :

संस्कृत–संस्कृति में मानव की सुख–शान्ति के लिए पूर्ण व्यवस्था की गई है। जिस संस्कृत–संस्कृति की शरण में जाकर महात्मा गाँधी भारत की स्वतन्त्रता दिला सके, उसी की शरण लेकर राष्ट्र की एकता और अखंण्डता की रक्षा संभव है। संस्कृत किसी प्रदेश विशेष, दर्शन विशेष या जाति विशेष की भाषा नहीं है। विघटन चतुर विदेशी आर्य–अनार्य का द्वेषमूलक दुष्प्रचार करके विघटन का ऐसा बीजवपन कर गये हैं कि आज राष्ट्रीय एकता की सुरक्षा के बहाने भारत सरकार को अंग्रेजी का पल्ला थामना पड़ रहा है।

दक्षिणी भारतीय भाषाओं को लिपिबद्ध करने के लिए सर्वप्रथम अगस्त्य मुनि ने ही दक्षिण भारतीय जनों को लिपि उपहृत की थी। लमिल भाषा को सुव्यवस्थित करने हेतु अगस्त्य मुनि ने जिस व्याकरण की रचना की थी, उसने कालान्तर में उन्हीं के नाम पर 'अगत्थियम्' के रूप में रचना की थी, उसने कालान्तर में उन्हीं के नाम पर 'अगत्थियम्' के रूप में प्रसिद्धि पाई। क्षेत्रीय उच्चारण के प्रभाव के कारण तमिल में नागरी लिपि के सम्पूर्ण अक्षरों का प्रयोग नहीं हो पाता। इसलिए तमिल लिपि में संस्कृत ग्रन्थों को लिखने की अशक्यता के कारण नागरी लिपि की सहायता से ''ग्रन्थलिपि'' का आविष्कार किया गया। आज दक्षिण भारत में विधटक राजनीति से प्रेरित होकर हिन्दी के प्रति घृणाद्वेष की भावना जगाकर तमिल में प्रयुक्तपूर्व संस्कृत शब्दों को गिनगिन कर बहिष्कृत किया जा रहा है। राष्ट्रीय एकता में दरार उत्पन्न करने वाली इस राष्ट्रद्रोही चाल को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए।

दक्षिण भारत की सभी भाषाएँ संस्कृतप्रसूत हैं। मध्यवर्ती प्राकृतों और अपभ्रंशों की व्यवस्था न हो पाने के कारण संस्कृत और दक्षिण भारतीय भाषाओं की ये योजक कड़ियाँ लुप्त हो गई। इस कारण तमिल के रूप में विद्यमान अतिधृष्ट संस्कृत शब्दों को पहचानने में आज कठिनाई हो

रही है। यद्यपि तमिल की एक शैली ''मणिप्रवाल'' ने मध्यस्थता के रूप में एक स्तुत्य कार्य किया है, तथापि उसमें संस्कृत तत्सम शब्दों के बाहुल्य के कारण राजनीतिज्ञ जन उसे वर्ग विशेष की भाषा की मान्यता देते हैं।

दक्षिण भारतीय वायुमण्डल के अनुरूप बोली जाने वाली संस्कृत शब्दावली इतनी विकृत हो गई कि क्षेत्रीय शब्दों को सुनकर मूल संस्कृत शब्दों का प्रत्यभिज्ञान नहीं हो पाता। इसी कारण दक्षिण भारतीय भाषाओं को संस्कृतमूलक न मानने का दुष्प्रचार किया जाता है। आज आवश्यकता है मध्यवर्ती प्राकृत–अपभ्रंशों की टूटी शृंखला–कड़ियों को जोड़ने की। पीने के लिए तमिल में ''कुड़ी'' और कन्नड़ में कुडियुवदु क्रियाएँ प्रयुक्त होती हैं। ये दोनों संस्कृत के ''कुण्डी'' शब्द की नामधातु क्रियाएँ हैं। बंगलोर में एक मुहल्ला है–'बसवन गुडी'। मैंने पूछा–'यह नाम कैसे पड़ा?' श्री एस0 महादेवन शर्मा बोले–गुरूजी वहाँ बसवन भगवान् का मन्दिर बना है। मैं मन्दिर का दर्शन करने पहुँचा। देखा कि नन्दी का बारह फुट ऊँची विशाल मूर्ति पूरे मन्दिर में समाई है। अल्पकाय शिवलिंग की पृष्ठभाग में स्थापना थी। अतः वह प्रधानतया नन्दी = वृषभ की कुटी (=मन्दिर) थी। दक्षिण भारत में अकारान्त नामों को नकारान्त बनाकर बोलने की प्रथा प्रचलित है– राम को रामन्, राजीव को राजीवन् इत्यादि भाषा की इसी प्रकृति के अनुसार वृषभ को वृषभन् बोला जाता है। वृषभन् का घृष्ट रूप बसवन् और कुटी का गुडी बन गया। टी0 बरो और एमन्यू ने दक्षिण भारतीय भाषाओं का व्युत्पत्तिक कोष बनाया है–'एन् एटिमोलाजिकल् डिक्शनरी ऑव् द्रविडियन् लैंग्वेजज्।' किन्तु मध्यवर्ती प्राकृतों और अपभ्रंशों की विलुप्त कड़ियों के अप्राप्त होने के कारण वे उस कोष के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सके हैं।

सामान्य जनता समझती है कि उर्दू विदेशी भाषा है। इस कारण उसका संस्कृत भाषा के साथ कोई नाता नहीं है। तथ्य तो यह है कि उर्दू भाषा किसी धर्म विशेष की भाषा नहीं है। उर्दू भाषा के वाक्यविन्यास का पूरा चौखटा देवभाषा संस्कृत की परम्परा से अनुप्राणित है। उर्दू भाषा के वाक्यों की समस्त क्रियाएँ और कारक–चिन्ह् देवभाषा से प्रसूत हैं। वह

विदेशी नहीं है। हिन्दी और उर्दू के वाक्य–विन्यास का चौखटा एक समान है। चौखटे का मध्यवर्ती चित्र भर बदल जाता है। इस चौखटे के अन्दर अरबी–फारसी शब्द बहुलता का चित्र लगाने पर उर्दू और संस्कृतमूलक शब्द बहुलता का चित्र लगाने पर हिन्दी तथा अरबी–फारसी–संस्कृत मिश्रित शब्दावली का चित्र लगाने पर हिन्दुस्तानी नाम पड़ जाते हैं। किन्तु इस वैविध्य में चौखटे का ऐक्य यथास्थित बना रहता है। सच तो यह है कि उर्दू भाषा को विदेशी लिपि का जामा पहनाकर उसे उसकी स्वदेशीयता से वंचित किया गया है।

संस्कृत भाषा का रक्त समग्र भारतीय भाषाओं की धमनियों में प्रवाहित हो रहा है। विभक्त से प्रतीत होने वाले समस्त पन्थों और उनके दर्शनों का मूल स्रोत देवभाषा संस्कृत में अवस्थित है। इसी कारण इस स्वार्थ प्रधान युग में आज भी उन सबकी पारस्परिक एकता बनी हुई है।

राष्ट्र को एक सूत्रता में पिरोने वाली भाषा :

बिखरी मणि–गुटिकाओं को माल्य रूप प्रदान करने में जिस प्रकार धागा की प्रमुख भूमिका बनती है, उसी प्रकार विभिन्न प्रदेशों और विभिन्न भाषाओं को माला रूप में गूँथने का कार्य चिरकाल से अमरभाषा संस्कृत करती आई है। जब–जब इसकी उपेक्षा की गई, धागे की पकड़ शिथिल होती गई। तत्तद्भाषाभाषी प्रदेशों की भौगोलिक मणियाँ या तो शिथिल होती गईं या फिर बिखर गई। कन्याकुमारी से कश्मीर और कामाख्या से हिंगलाज तक के समग्र भूभाग को एकसूत्रता में आबद्ध कर रखा है पवित्र तीर्थों के अविच्छेद्य संस्कृतसूत्रविन्यास ने, चिरकाल से तीर्थयात्रियों की सम्पर्कभाषा या संस्कृतसदृश गाथा (संकरसंस्कृत) बनती आयी है। संस्कृत के प्रति अनधानता के कारण आज हमारा पवित्र हिंगलाज तीर्थ समग्र माला से छिटक कर अलग–थलग जा पड़ा है।

संस्कृत विश्वजनीय भाषा :

संस्कृतभाषा में केवल भारत राष्ट्र को ही एकसूत्रता में गूँथने का सामर्थ्य संनिहित नहीं है, अपितु समग्र विश्व को भी एकरूपता प्रदान करने की शक्ति इसमें विद्यमान है। विश्वजनीय चिन्तकों ने संसार की प्रमुख

भाषाओं के शब्दों के संग्रह द्वारा 'एस्पेरेन्तो' नामक भाषा का घटन किया था, जिसे सम्पूर्ण विश्व की एक भाषा का पद दिया जाना था। उसमें संस्कृत की प्रमुख भूमिका बनी थी। किन्तु खिचड़ी खाकर कोई व्यक्ति शक्तिशाली मल्ल नहीं बन सकता। इसलिए वह कृत्रिम भाषा चल न सकी। देवभाषा संस्कृत ही विश्वजनीय भाषा बनने का माद्दा रखती है। इसमें चार पदों के एक वाक्य (इदानीं भावन् कुत्र गच्छति) को चौबीस प्रकार से बोला और लिखा जा सकता है। इसका वाक्य–विन्यास विश्वजनीय किसी भी भाषा की प्रकृति के अनुरूप ढल जाता है। निर्जीव यन्त्रों (कम्प्यूटर) तक ने संस्कृत की शीर्षण्यता को सिद्ध कर दिया है।

भारत को बृहत्तर बनाने की शक्ति :

संस्कृत परा शक्ति की तेजस्विता से ऊर्जस्वल है। आधुनिक समस्याओं को समाहित करने के गुर इसमें विद्यमान हैं। आस्तिक–नास्तिक विचारों की वाहिका देवभाषा संस्कृत है। यह यद्यपि धर्मविशेष की भाषा नहीं है, तथापि अपने में स्वयं धर्म है। इसमें समग्र राष्ट्र को धारण करने की शक्ति विद्यमान है। यह भारत की भारती है। वायुपुराण में 'भारती चैव विपुला महाभारतवर्धिनी' कहकर हजारों वर्ष पूर्व संकेत कर दिया गया था कि भारत राष्ट्र की बुहत्तरता को सुरक्षित रखने के लिए भारती = संस्कृत की शरण ग्रहण करने में होगा। अन्यथा राष्ट्र आपत्तियों–विपत्तियों की खाई में गिरकर संत्रस्त बना रहेगा। संस्कृत धर्म धर्मों का धर्म है। इसमें किसी भी धर्म की झलक देखी जा सकती है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य प्रदान करने में संस्कृत के योगप्रकार विश्व में अपना सानी नहीं रखते। आयुर्वेदीय चिकित्सा के प्रति विश्वजनीय देशों में आकर्षण बढ़ता जा रहा है। भारत के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण भागों में सर्वत्र आयुर्वेद और फलित ज्योतिष की एकरूपता है। फलित ज्योतिष संस्कृत में सुरक्षित है जबकि उसका चित्र विश्व पटल से मिट चुका है। संस्कृत वटवृक्ष विश्वजनीनत्रस्त मानवता को त्राण देने हेतु आहूत कर रहा है।

युगानुरूप संशोधन की क्षमता :

पाश्चात्य संस्कृति की चपेट में आकर शूद्र जातियों को अपनी समृद्धि से वंचित होना पड़ा। प्राचीन भारत में शूद्रजातियाँ समृद्ध थी। विदेशी शासकों ने उनके व्यापार छीनकर उन्हें निस्सत्व और दलित वर्ग की कोटि में ला खड़ा किया। आज पिछड़े और दलित वर्ग को उकसाकर राष्ट्रीय विघटन के बीजवपन की राष्ट्रद्रोही चेष्टाएँ जारी हैं। संस्कृत–संस्कृति से पता चलता है कि रस, घी, तेल, अन्न, वस्त्र चमड़ा इत्यादि उद्योगों पर वैश्य, शूद्र और अन्त्यज जातियों का एकाधिकर था। अंग्रेज चले तो गये पर राष्ट्रीय विघटक तत्वों का बीजवपन करते गये, जिसका परिणाम अद्यतन भारत को भुगतना पड़ रहा है। जार्ज वाट की 'ए डिक्शनरी ऑव् एकानामिक प्रोडक्ट इन इंडिया' नामक बृहत् कोश में अंग्रेजों के आगमन से पूर्व की व्यावसायिक स्थिति का विस्तृत विवरण दिया गया है। ब्राह्मण की भिक्षकी वृत्ति का प्रमुख स्रोत पिछड़ा वर्ग ही था। सात सौ वर्षों के मुगलकालीन परतन्त्रता युग में निर्लोभ ब्राह्मण सेवावृत्ति त्याग वेदों और महत्वपूर्ण संस्कृत वांगमय को कण्ठस्थ रखकर संस्कृति की जीवन्तता बनाये रख सके। उसी के कारण आज भी अक्षुण्य भारतीय संस्कृति विदेशियों के आश्चर्य का विषय बनी हुई है। उसका रहस्य संस्कृति–संस्कृति की नम्यता या लचीलापन भी है, जिसके कारण भारतीय संस्कृति समय–समय पर युगानुरूप सूक्ष्मातिसूक्ष्म संशोधन करती आई है। सभी सम्प्रदायों ने वेदों की व्याख्याएँ अपने मतानुकूल की हैं। फलतः अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, विशुद्धद्वैत इत्यादि विविध दर्शनों ने जन्म लिया। कबीर और रैदासी पन्थ पल्लवित हुए। महामना मदनमोहन मालवीय के निर्देश पर हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित संस्कृत कालेज के तदानीन्तन प्रिन्सिपल महामहोपाध्याय पण्डित प्रमथनाथ तर्कभूषण ने संस्कृत वांगमय को मथकर 'हिन्दू समाज में अन्त्यजों की भागीदारी' विषय पर श्लाध्य पुस्तक लिखी थी–'अन्त्यजों के प्रति हमारा कर्तव्य।'

संस्कृत वैज्ञानिक भाषा :

विश्वजनीय मानव आज संस्कृत के प्रति आकृष्ट हुआ भारत भागा चला आ रहा है अपनी चिर तृषा शान्त करने। उसके जीवन के लिए अपेक्षित सभी प्राकृतिक तत्व उसे संस्कृत में दृष्टिगोचर हो रहे हैं। परन्तु आश्चर्य, यह अपने घर में उपेक्षित पड़ी है। भारतीय जन समृद्धि के लिए लालायित हैं। किन्तु समृद्धिशाली विश्वजनीय जन प्राकृतिक और शान्तिपूर्ण जीवन की गवेषणा में संस्कृत की शरण ले रहा है। अधिकांश व्यक्तियों का विचार है कि संस्कृत सर्वगुण सम्पन्न तो है, किन्तु उसकी दुरूहता और दुर्गमता के कारण सामान्य जन उसके लाभ से वंचित है। अमरकोष, व्याकरण, शब्द रूपों और धातुओं का रटना ही उसमें प्रवेश का एकमात्र उपाय है।

उपर्युक्त आरोप अब मिथ्या सिद्ध हो चुका है। संस्कृत ही संसार की वैज्ञानिक भाषा है। वाग्योगविधि (Mnemonic Method) से अध्ययन कर जिज्ञासुजन केवल 180 घण्टों की अवधि में संस्कृत को बोलने–लिखने की क्षमता अर्जित कर रहे है। वाग्योगविधि में केवल एक प्राकृतिक नियम पल्लवित होकर समग्र संस्कृत भवन की आधारशिला बनता है। अद्यतन वैज्ञानिक युग में संस्कृत प्रशिक्षण की वाग्योगविधि शतप्रतिशत सफल सिद्ध हुई है।

प्रादेशिक भाषाओं के लिए सेतु :

सम्प्रति राष्ट्रपति का मूलभाषण अंग्रेजी में लिखा जाता है। पश्चात् प्रादेशिक भाषाओं में उसका अनुवाद किया जाता है। किन्तु अंग्रेजी की शब्दावली के साथ प्रादेशिक भाषाओं की शब्दावली का कोई तालमेल ही नहीं है। अंग्रेजी का स्थान ग्रहण करने की सामर्थ्य केवल संस्कृत भाषा में विद्यमान है। प्रादेशिक भाषाओं के साथ इसकी शब्दावली का पूर्ण रूप से तालमेल बना हुआ है। आज राष्ट्रीय बिखराव के संक्रामक युग में आवश्यकता है कि राष्ट्रपति का मूल भाषण संस्कृत में निबद्ध हो। उसके

पश्चात् हिन्दी, प्रादेशिक भाषाओं और अंग्रेजी में उसके अनुवाद कराये जाएँ। ऐसा करने पर सभी प्रादेशिक भाषाओं का परस्पर सद्भाव एवं बन्धुत्व बढ़ेगा। परस्पर सौहार्द एवं मेलजोल के लिए संस्कृत आज भी एक सुदृढ़ सेतु का कार्य करने के लिए उद्यत है।

निदेशक :
अनुसंधान संस्थान
सं0 सं0 विश्वविद्यालय,

वैदिक काल–विज्ञान

पं0 चन्द्रकान्त बाली, शास्त्री

प्रथमोऽध्यायः

'शतं तेऽयुतं हायनान् द्वग्रेगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
–– अथ र्व0 8/2/29

वेदशास्त्र भारतीय संस्कृति के आलोक–स्तम्भ हैं। वेद स्वतः प्रमाण हैं। वेद को प्रख्यापित करने के लिए किसी अन्य साधनान्तर की अपेक्षा नहीं है। अतः वेद जिस विषय पर अपना अभिमत स्थापित करता है, एक तरह से वह अन्तिम ही होता है। इस परिवेश में वेद ने सर्वप्रथम 'काल विज्ञान' पर अपना अभिमत प्रकट किया है। पुराण–शास्त्रों ने तो 'काल–विज्ञान' को अपने तौर–तरीके से आख्यापित किया है। धर्मशास्त्र–धुरन्धर इस दिशा में अत्यधिक जागरूक एवं क्रियाशील रहे हैं। ज्योतिर्विज्ञान के पण्डित 'काल–विज्ञान' के अधिकृत व्याख्याता विश्रुत थे ही, और आज भी उनकी स्थिति यथापूर्व है। विविध क्षेत्रों में पहुँचकर काल–विज्ञान में समरस रहना संभव न था, वही हुआ–जिसकी संभावना थी। परन्तु अपने विषय क्रियाकलापों के परिणामस्वरूप अविषम फलागमों से जुड़े हुए काल–विज्ञान के लम्बे–चौड़े दायरे में कहीं भी दरार नहीं आई। भारतीय 'काल–विज्ञान' का यही चमत्कार पूर्ण पक्ष विश्व को अपनी ओर आकृष्ट किये हुए है। उसी सन्दर्भ में हम कुछ विषम क्रिया–कलापो काल–विज्ञान के प्रक्रियाजन्य समरस फलागम (परिणाम) का आस्वादन करेंगे।

(1) अनुच्छेद : पूर्वपक्ष

वेदविद्या से पूर्णतया असम्पृक्त अथवा अनभिज्ञ लोगों ने उपर्युक्त मन्त्र की गलत व्याख्या करते हुए लिखा है :–

'(ते) उन अहोरात्रों अर्थात् सृष्टि व प्रलय को (शतं अयुतं हायनान्) दशसहस्त्र वर्ष गुणा 100 अर्थात् 10 लाख तक शून्यों से पूर्व (द्वे त्रीणि चत्वारि युगे) क्रमशः दो, तीन, चार मिलाने पर 4,32,00,00,000 वर्ष की

आयु वाले (कृण्मः) करता हूँ। (इन्द्राग्नी) राज्याधिकारी व ज्ञानी (विश्वे देवाः) निखिल विद्वान लोग (अह्नीयमाणाः) ये शान्तचित होकर (ते) सृष्टि प्रलय रूपी अहोरात्रों का (अनुमन्यताम्) मनन करें।'– वेदवाणी, बहालगढ़, 25/8, 1973 ई0

यह प्रपंच काल–विज्ञान के स्वभावतः विपरीत है। मन्त्र में सृष्टि–प्रलय अथवा 'अहोरात्र' का उल्लेख नहीं है। यह बलपूर्वक प्रक्षिप्त अर्थाधान है और अंकों के अभाव में केवल 'शून्यों' का कोई मूल्य नहीं है। जैसे–

प्रथम चरण– 00,00,000 शून्यों की स्थापना,

द्वितीय चरण– 4,32,00,00,000 शून्यों से पूर्व अंक संयोजना, गणना की यह पद्धति अवैज्ञानिक है और अमान्य है।

(2) अनुच्छेद : सायण पक्ष

आचार्य सायण ने मन्त्र की व्याख्या इन शब्दों में प्रस्तुत की है –

चतुर्णां युगानां सन्धिसंवत्सरान् विहाय युगचतुष्टयस्य मिलित्वा अयुतं (10000) संवत्सराः स्युः तान् विभज्य द्वै कलिद्वापराख्ये त्रीणि त्रेता सहितानि चत्वारि कृतयुग सहितानि कुर्मः – इति आथास्यते।'

श्रीमत्सायणाचार्य का व्याख्यान अस्पष्ट है। आचार्य सायन ने 'अथुतम्' (10,000) को चार खण्डों में विभाजित किया है। यथा– कलिद्वापराख्ये त्रीणि, त्रेता सहितानि (त्रीणि) चत्वारि कृतयुगसहितानि कुर्मः। अयुत को 3+3+4 = 10 उपखण्डों में विभाजित किया है। प्रश्न होना स्वाभाविक है–'शतम्' का क्या हुआ? वह व्याख्या निरपेक्ष क्यों रह गया है?

उपर्युक्त वेदमन्त्र के अर्थ संदोहन में आचार्य सायण से हमारा गहरा मतभेद है। हम 'शतम्' और 'अयुतम्' को इस प्रकार यंत्रस्थ मानते हैं।

अयुतम्

400	चत्वारि	4000	कृतयुग	400
300	त्रीणि	3000	त्रेतायुग	
200	त्रीणि	2000	द्वापरयुग	
100				

——	——	——
शतम्	10000	

यह काल–विभाजन दिव्य–संवत्सर मूलक है। इसे मानवी कालगणना में परिणत करने के लिए 360 से गुणित करने की अपेक्षा है–

(1) कृतयुग 400 धन 4000 धन 400 =4800 गुणे 360 =17,28,000, 'मानुषेण
(2) त्रेतायुग 300 धन 3000 धन 300 =3600 गुणे 360 =12,96,000, प्रमाणतः'
(3) द्वापरयुग 200 धन 2000 धन 200 =2400 गुणे 360 =8,64,000,
(4) कलि(युग) 100 धन 1000 धन 100=1200 गुणे 360 =4,32,000, मानववर्ष

1000+10,000+1000 = (12000) □360 = 43,20,000 = महायुग

'शतम्' और 'अयुतम्' को समान्तर रेखा में लिखकर विचार करने से वेदार्थ साधु और सुबोध हो जाता है। अन्यथा नहीं।

(3) अनुच्छेद : प्रशस्त मार्ग

वेदार्थ की साधूपलब्धि के लिए एक अन्य यथार्थ परीक्षा–प्रणाली से गुजरना होगा। वेदमन्त्र में 'द्वे' 'त्रीणि' और 'चत्वारि' को प्रतीकात्मक मान लें, तब गणित–विधान का वैज्ञानिक मार्ग मिल जाता है। यथा –

(क) द्वे : 2	द्वापर युग का प्रतीक	2, 3, 4 स्थापित किया।
(ख) त्रीणि : 3	त्रेता युग का प्रतीक	(अंकानां वामतोगतिः)
(ग) चत्वारि : 4	कृतयुग का प्रतीक	4, 3, 2 स्थापित किया।

टिप्पणी–वैदिक काल गणना में 'कलि गणना' वर्जित है।

इस संख्या को (432) अनिवार्य अध्याहार के रूप में स्वीकारना होगा। गणित–विज्ञान के अनुसार किसी गुणित–विस्तार से पूर्व दश (10) से गुणित करना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा, दशोत्तर गुणन–प्रक्रिया पंगु ही रह जाएगी। अर्थात् दश (10) से गुणा किए बिना, न शतम् (100) से गुणा कर सकते हैं, न अयुतम् (10,000) से गुणा कर सकते है। परिणामस्वरूप गुणन–प्रक्रिया का यथार्थ विधान अपनाने पर ही प्रशस्त मार्ग मिलेगा, यथा–

(क) 432 गुणे 10 = 4320 फलितार्थ मिला।

यह वैदिक काल–गणना की एक इकाई है। एतत्पश्चात् वेद मन्त्र द्वारा निर्दिष्ट गुणन विधान चरितार्थ होगा। यथा –

(ख) 4320 गुणे 100 =4,32,000 प्रथम युग की परिमाणतः वर्ष संख्या।
(ग) 4,32,000 गुणे 10,000 =4,32,00,00,000 = ब्राह्मदिवस।

'4320' को वैदिक इकाई मानने पर समूचा गणना–विस्तार सुलझ जाता है।

टिप्पणी 1– सायणचार्य ने जैसा लिखा है–'सन्धि–संवत्सरान् विहाय' यदि सचमुच इस तथ्य को हृदयगंम कर लें, तो गणना–विधान बिलकुल वास्तविक स्थिति में सामने आ जाता है। ऐसा लगता है–सन्धिकाल की प्रकल्पना या तो धर्मशास्त्रियों की देन है; या फिर पौराणिकों का वरदान। काल–कोविद समाज में केवल 'आर्यभट्ट' ही ऐसा व्यक्ति है, सन्धिकाल की मान्यता के विपक्ष में खड़ा नजर आता है। शेष सभी ने 'सन्धिकाल' स्वीकारा है। वैदिक ऋषियों ने तथा आर्यभट्ट ने 'सन्धिकाल शृंखला' को मूल गणना (सहस्र चतुर्युगी) में ही अन्तर्भुक्त माना है।

टिप्पणी 2– हमने अथर्ववेद के विश्रुत मन्त्र का अर्थाधान–श्रीमत्सायणाचार्य के पक्ष की सर्वथा उपेक्षा करके–उसकी वैज्ञानिक अनिवार्यता को ध्यान में लेकर जो समझ में आया है, लिखा है, वास्तव में हम सबको 'वैदिक गणना–विधान की सुलभ इकाई को मान लेने में ही भलाई है, जो 4320 वर्षों पर आधृत है। 4320 सौर वर्षों की वैदिक 'इकाई' समस्त गणना का आधार है।

(4) अनुच्छेद : आर्यभट्ट का निर्णय

आर्यभट्ट ने गणना की बुलन्दियाँ पार करके जो निर्णय लिए हैं; वे न केवल विस्मयकारक हैं, बल्कि वे निर्णय युगों तक विश्व को प्रभावित करते रहेंगे। आर्यभट्ट ने एक गीतिका में लिखा है : 'मनुयुग' 2 ख गतास्ते च'।

अर्थात् श = 70, ख–2 अर्थात् 72 मनु (मन्वन्तर) युग गताः = गुणित किया, ते च = और वही (72 संख्या) (जमा किया)।

यह हमारा प्रस्तावित अर्थाधान है।

इस गीतिका पाद में आर्यभट्ट ने अपना करतब दिखाया है। एक बार 72 लिख कर उसे मनु संख्या से (14) गुणित करने का निर्देश दिया है। यथा–72 गुणे 14 = 1008, अर्थात् 1008 महायुग = चतुर्युग। अनेक आचार्यों ने इसे अस्वीकार किया है। परन्तु अपनी धारणा यह है कि आर्यभट्ट ने 'ते च' लिखकर पूर्वोक्त संख्या (72) का पुनर् आह्वान किया है, ताकि उस संख्या को पूर्वागत संख्या में जोड़ा जा सके तथा वैदिक इकाई–4320– को स्थापित किया जा सके। यथा–72 गुणे 14= 1008 धन 72 = 1080 वर्षों को प्रख्यापित करना आर्यभट्ट को अभीष्ट रहा होगा, वहीं उसने किया है।

हम पूर्णतया इस बात पर स्थितप्रज्ञ है कि अथर्ववेद का काल–नियामक मन्त्र आर्यभट्ट के निर्णय पर भी शत–प्रतिशत चरितार्थ होता है। यथा–

(क) आर्यभट्ट के फलितार्थ को 4 से गुणा किया–1080 गुणे 4= 4320 सिद्ध हुआ।

यह वैदिक इकाई है, जिसकी हमें निरन्तर तलाश है। एतत्पश्चात् –

(ख) शतम् 4320 गुणे 100 से गुणित किया = 4,32,000 न्यूनतम इकाई।

(ग) अयुतम– 4,32,000 गुणे 1000 = 4,32,00,00,000 ब्राह्मदिवस।

हमने जो वैदिक कालगणना की इकाई–4320– स्थापित की है वह कल्पना प्रसूत नहीं है। उस पर आर्यभट्ट का वैज्ञानिक ठप्पा लगा हुआ है।

(5) अनुच्छेद : उपसंहार

अथर्ववेद के प्रशस्त एवं प्रसिद्ध मन्त्र के निम्न फलितार्थों को सन्दर्भ में लेकर उनका अर्थाधान इस प्रकार मानते हैं–

ते= हायनाः, 4320– एकांश (यूनिट) रूपेण अभिमताः हायनाः,

शतम् =शतेन गुणिताः गुणे 100= 4,32,000 वर्षेषु फलीभूताः हायनाः,

अयुतम्–दश सहस्रेण गुणिताः गुणे 10000= 4,32,00,00000 वर्षेषु विस्तीर्णाः हायनाः सन्ति। इमे हायना ब्राह्मदिवसीय : सन्ति।

तान् हायनान्

द्वे युगे – द्वापर युगात्मकानि (8,64,000) वर्षाणि, यथा
त्रीणि युगानि त्रेतायुगात्मकानि (12,96,000) वर्षाणि तथा
चत्वारियुगानकृतियुगात्मकानि (17,28,000) वर्षाणि मिलित्वा
कृण्मः = स्वीकुर्मः कालाकलनाय स्थापयामः, तदन्तरम्–प्रार्थयामः–
हे इन्द्राग्नी = उभे देवस्तुते देवते,
विश्वे देवाः = अन्ये चाखिला देवयोनयः
अहलीयमाणाः = त्यक्तलज्जाकाः, निःसंकोचभावने एतान् हायनान्
अनुमन्यन्ताम् = स्वीकुर्वन्तु। इति।।

हम इस अर्थाधान के अन्तरंग में छिपे रहस्य से भी अवगत हैं। वैदिक इतिहास के लिए कृतयुग, त्रेतायुग तथा द्वापरयुग का ग्रहण होगा। (अर्थात् कलिकालगणना को वर्जित मानेंगे)। यथा–

परिवर्त युग
(सौर वर्ष 38,88,000)

मनुसंवत् 00 (धन से) 38,88,000 तक

4 कृत्युग 3 त्रेतायुग 2 द्वापरयुग

12,05,31,102 ई.पू. से (–) 11,66,43,102 तक।

कलिकाल वर्जित

पूरे 'महायुग' के दस एकांश (यूनिट) हैं। संकेतत :

द्वापरयुग धन त्रेतायुग धन कृतयुग = परिवर्तयुग कलि वर्जित

2/10 धन 3/10 धन 4/10 = 9/10 1/10

अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

द्वितीयोऽध्याय :

'या औषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यः त्रियुगंपुरा।'

.... ऋग्वेद, 10/97/1

भारतीय ज्योतिष–विषयक आर्षग्रन्थों में तथा पुराणों शास्त्रों में परम्परागत सन्धिवर्ष गणना–'वैदिक सन्धिवर्ष गणना' से जरा हटकर है। प्रख्यापित कालगणना में क्वचित् दो युगों के मध्य 'सन्धि काल गणना' स्थापित है, अन्यत्र दो महायुगों के मध्य सन्धिकाल मान्य है; प्रायः सर्वत्र दो मन्वन्तरों के मध्य' एक सन्धिकाल –जो कृतयुगीन वर्षों (17,28,000) के रूप में स्वीकृत है–वैधानिक तौर पर मान्य है। इसे यदि एक 'गणना–फलक' पर उतारकर देखे, तो वह इस प्रकार होगा। यथा–

देवसृष्टि (युग)	कल्पादि सन्धि	=	17,28,000
	1. स्वायंभुव मन्वन्तर	=	30,67,20,000
	सन्धिवर्ष	=	00,17,28,000
	2. स्वारोचिष मन्वन्तर	=	30,67,20,000
	सन्धिवर्ष	=	00,17,28,000
	3. उत्तम मन्वन्तर	=	30,67,20,000
	सन्धिवर्ष	=	00,17,28,000
	4. तामस मन्वन्तर	=	30,67,20,000
	सन्धिवर्ष	=	00,17,28,000
	5. रैवत मन्वन्तर	=	30,67,20,000
	सन्धिवर्ष	=	00,17,28,000
	6. चाक्षुष मन्वन्तर	=	30,67,20,000
	सन्धिवर्ष	=	00,17,28,000
			1,85,24,16,000

एक अरब, पच्चीस करोड़, चौबीस लाख, सोलह हजार वर्ष

इसके पश्चात् 7वाँ मन्वन्तर आरम्भ होता है। उसके भी 27 महायुग (सम्पूर्ण) के पश्चात् कृतयुग, त्रेतायुग तथा द्वापर युग भी व्यतीत हो चुके हैं, और 28वें कलियुग का 51000 वर्ष प्रवर्तमान है।

आर्षगणना में एक विचित्र काल–आकलन और भी है। ज्योतिष गणना नियामक ग्रन्थों में 'कल्प संवत्' और 'सृष्टि संवत्' का अलग–अलग विधान भी है–

ग्रहर्ष देव दैत्यादि सृजतो अस्य चराचरम्।
कृताद्रिवेदा दिव्याब्दाः शतध्ना वेधसो गताः।।

–– सूर्यसिद्धान्त 1/24

कृत = 4, अद्रि = 7, वेद = 4 ; ('अंकानां मामतो गति' लें या न लें–बात एक बराबर है) 474 को सौ से गुणा किया, (शतध्ना) = 47400 को दिव्यसंख्या मानकर उसे मानुष गणना में परिवर्तित करने के लिए 360 से पुनः गुणित किया–

47400 गुणे 360 = 1,70,64,000

कल्पसंवत् तथा सृष्टिसंवत् में यही अन्त है। यथा–

कल्प संवत्	=	1,97,29,49,094	1993 ईसवी
सृष्टि संवत्	=	1,95,58,85,094	
		1,70,64,000 = अन्तराल गणना	

ये वर्ष गणना अपने गर्भ में कितने सन्धिवर्ष एवं कितने मन्वन्तरीय महायुग वर्ष समाहित किये हुए है–यह अलग से शोध का विषय है।

वैदिक कालगणना इससे भिन्न है। वेद मतानुसार दो–दो मन्वन्तरों के बीच सन्धिकाल मान्य नहीं है। बल्कि मान्य दो कल्पों के मध्य सन्धिकाल वेदशास्त्रों को मान्य है। यथा–

पूर्व सन्धि	43,20,000 गुणे 3 त्रियुगंपुरा	= 1,29,60,000 सौरवर्ष
ब्राह्म दिवस	43,20,000 □71□14 = अथवा □994 चर्तुयुग	= 4,29,40,80,000 ,,
अपर दिवस	43,20,000 3 त्रियुगं पश्चात्	= 1,29,60,000 ,,
योग	3 धन 994 धन 3 = 1000 महायुग	4,32,00,00,000 ,,

अर्थ मीमांसा

इस समग्र काल–आकलन पर दृक्पात करते ही यह निष्कर्ष आसानी से मिल जाता है कि एक ब्रह्मदिवस के लिए कितने संधिवर्ष अभीष्ट हैं? उस पर पुराणशास्त्रों तथा वैदिक मान्यता में कोई तिल पर भी अन्तर नहीं है, यथा–

वैदिक सन्धिकाल	पौराणिक सन्धिकाल
1,29,60,000 प्रातः धन 1,29,60,000 सायम्	कृतयुग = 17,28,000□15 सन्धिवर्ष
2,59,20,000 योग	2,59,20,000 योग

सन्धिवर्षों पर वैदिक और पौराणिक मतैक्य होने पर भी उनके विभाजन पर अन्तर है। वेदमतानुसार दिवसादि और दिवसान्त सन्धिवर्ष वैज्ञानिक हैं; जबकि पौराणिक सन्धि विभाजन अवैज्ञानिक है। कारण, हम अपने समग्र दिवस को 24 घंटों में विभाजित तो करते हैं, परन्तु प्रति दो घंटों के मध्यान्तर में सन्धिद्योतक मिन्टों का ग्रहण कर विधान नहीं करते। यदि हम पौराणिक सन्धिविधान को रद्द भी कर दें, तो काल–आकलन में कोई विक्षोभ होने वाला नहीं है।

कल्प संवत् तथा सृष्टि संवत् के अन्तराल को वैदिक गणना–विधान के अनुसार इस प्रकार ग्रहण करते हैं। यथा–

	त्रियुगंपुरा = 12960000 धन
कृतयुग धन त्रेतायुग धन द्वापर युग	= 38,88,000 धन
कलिकालार्द्ध भाग	= 2,16,000 बराबर
	= 1,70,64,000

अर्थात् पूरा सन्धिकाल (3 युग) व्यतीत होने पर प्रथम महायुग के 2,16,000 वर्ष अवशिष्ट रहते देव–काल–गणना आरम्भ हुई। पौराणिक विद्वानों ने इसे 'सृष्टि रचनाकाल' मान लिया। मानव कालगणना का आरम्भ 12,05,31,102 ईसवी पूर्व से हुआ–ऐसा हम अन्यत्र लिख रहे हैं।

इस लम्बी काल श्रृंखला में 'संधिकाल' एक समस्या के रूप में सामने आया है, जिसका विश्लेषण इस प्रकार है–

1. दो कल्पों के मध्य सन्धिकाल :

पूर्वोक्त वेद मंत्र का (ऋग्वेद 10/97/1) का आश्रय लेकर तीन महायुगों की मिश्रित वर्ष संख्या–1296000 कल्प से पहले और कल्पान्त में स्थापित देख सकते हैं। यही इस निबन्ध का निष्कर्ष है।

2. दो मन्वन्तरों के मध्य सन्धिकाल :

वैदिक संधिवर्षों को स्वीकारने के पश्चात् मन्वन्तर–मध्यवर्ती सन्धिकाल अमान्य है।

3. दो महायुगों के मध्य सन्धिकाल :

यद्यपि एक चतुर्युग (महायुग) की समाप्ति तथा आगन्तुक चर्तुयुग के मध्य अलग से संधि वर्षों का प्रावधान नहीं है, अलबत्ता एक व्यवस्था अवश्य है। यथा–

युग	संधिवर्ष		मूलवर्ष		संधिवर्ष		योग
कृतयुग	400	धन	4000	धन	400	बराबर	4800
त्रेतायुग	300	धन	3000	धन	300	बराबर	3600
द्वापरयुग	200	धन	2000	धन	200	बराबर	2400
कलिकाल	100	धन	1000	धन	100	बराबर	1200
	1000		10000		1000		12000

यह दिव्य संख्या है। इसे मानुष गणना में परिवर्तित करने के लिए 360 से गुणा करने की आवश्यकता है। यथा–

12000□360 बराबर 43,20,000 सौरवर्ष

मध्यवर्ती संधि–नियमानुसार व्यतीत महायुग के कलिकालीन 100 वर्ष तथा कृतयुगीन 400 बराबर 500 वर्ष (□360 बराबर 1,80,000) संधिकाल के स्वीकार्य हैं; परन्तु ये प्रक्षिप्तवर्ष नहीं; बल्कि उभययुगीन वर्ष संख्या में अंतर्भुक्त एवं संकलित वर्ष है।

4. दो युगों के मध्य सन्धिकाल :

महायुग की भांति, चतुर्युग के अंतर्गत क्रमशः एवं उत्तरोत्तर आने वाले युग के अन्तिम और आगन्तुक वर्षों को मिलाकर संधिवर्ष मान्य है–

'कलि द्वापर सन्धौ तु स्थिता स्ते पृित देवतम्।'

अर्थात् ईसवी पूर्व 3202 से 3002 ईसवी पूर्व वर्षों को लेकर 'सन्धिकाल' शास्त्र सम्मत है–100 कलिपूर्व + 100 कलि संवत्– जिसे कहकर हम आसानी से प्रसिद्ध कर सकते है।

तृतीयोऽध्यायः

पूर्व देवयुगमित्याख्यानम् । – यास्काचार्य

वैदिक इतिहास में आस्था रखने वाला विद्वत्समाज भगवान् यास्काचार्य का चिर ऋणी रहेगा, जिसने समूचे भारतीय काल–विज्ञान के दो खण्डों में विभाजित किया है। कालिक विस्तार के पहले भाग का नाम भी उसने ही बता दिया है–'पूर्वं देवयुगम्।' इसी शब्द के बलबूते पर अर्थापत्ति मूलक पृथक् अर्थान्तर की स्थापना भी की जा सकती है–'उत्तरं मर्त्ययुगम्' अर्थात् दूसरा, यानी देवयुग–परवर्ती युग का नाम 'मर्त्ययुग' है। इस नामकरण की पृष्ठभूमि में उतरते हुए हम स्पष्टतया कह सकते हैं– परमात्मा की अद्भुत सृष्टि में पहला स्थान देवताओं का, दूसरा स्थान मनुष्यों का है। इसे प्रकारान्तर से कहना हो, तो कह सकते हैं–परमात्मा ने पहले देवरचना की और देवरचना में से मनुष्य पैदा किए। मानो 'मनुष्य' देवसृष्टि का अवशेष हैं। भाषा भी मनुष्यों को देवताओं से विरासत के रूप में मिली है। यही कारण है–संस्कृत को 'देवभाषा' कहते हैं।

आज सृष्टि संवत् 1,97,29,095 है। इसे देवसृष्टि तथा मनुष्य सृष्टि में इस प्रकार विभाजित किया गया है–

`वसृष्टि	स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम तामस रैवत और चाक्षुष मनु	1,85,24,16,000 सौर वर्ष
मनुसृष्टि	वैवस्वत मन्वन्तर	0,12,05,28000 कलिपूर्व
	1,97,29,44,000	5095 वर्तमान कलि
		1,87,29,490,95 सृष्टिसंवत्

इन दो सृष्टियों की पहचान भी है 12 देवासुर संग्राम देवसृष्टि की घटना है। अवंतारों में भी 'मत्स्यावतार' तथा 'कूर्मावतार' देवयुग में हुए तथा मनुयुग में–नृसिंह, वामन, परशुराम, राम तथा कृष्ण–5 अवतार हुए। इस गणित से 'अमृतमंथन' देवयुग का चमत्कार है। देवयुग में वेदशास्त्रों की स्थिति एक दफा तो डगमगा गई थी। 'वेदानुद्धरते' सभी को याद है। मनुष्ययुग में वेदों की रक्षा निरन्तर युगानुरूप होने वाले 28 व्यासों ने की है। यह है–देवयुग और मनुष्य युग की पहचान।

एन0डी0/23, विशाखा इन्क्लेव,
पीतमपुरी, देहली
पिन–110034

महाभारत–युद्धकाल

डॉ. देवसहाय त्रिवेद

महाभारत युद्ध एक ऐतिहासिक तथ्य है । इस युद्ध का विशद् वर्णन महाभारत ग्रंथ में है। इसे पाँचवां वेद भी कहते हैं । इसमें कौरव व पाण्डव वंश में राज्य–हेतु घनघोर संग्राम का वर्णन है । पहले इस ग्रन्थ का नाम जय था जिसमें कुल 8800 श्लोक थे। पुनः भारत की रचना होने पर इस ग्रंथ की श्लोक संख्या 24000 हो गयी । अन्ततः यह महाभारत के नाम से ख्यात हुआ और इसे शतसाहस्त्री संहिता कहने लगे। किन्तु ग्रन्थ के काल के विषय में बातें न कर हम केवल युद्धकाल का निर्णय करने का यत्न करेंगे ।

यह महायुद्ध कलियुग प्रारम्भ होने के 36 वर्ष पहले हुआ था। कलि का प्रारम्भ खृष्टिपूर्व 3101 में हुआ । अतः महासमर 3137=(3101+36) खृष्टिपूर्व में हुआ। किन्तु आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार इसकी विभिन्न तिथियाँ हैं। यथा–

886 ख्रीष्टिसन : मेजर एल्ल।
575 खृष्ट पूर्व : वेटले
600 ,, ,, : हरिश्चन्द्र सेठ
150 ,, ,, : पार्जिटर (ऐसियंट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिसन पृ 0179–83)
1000 ,, ,, : बृजवासी लाल (ऐसियंट इण्डिया भाग 10, 11)
1151 ,, ,, : सीतानाथ प्रधान (क्रनोलाजी आव ऐसियंट इण्डिया पृ0 262–9)
1194 ,, ,, : 14 अक्टूबर वेलान्दी ऐयर
1197 ,, ,, : केशव लक्ष्मण दप्तरी (प्रोसिडिंग ओरियंटल कान्फ्रेंस भाग 12 अंक 2 पृ0 8–12)
1267 ,, ,, : केतकर (प्रो0 ओ0का0 1/452)

1280 ,, ,, कैलाशचन्द्र वर्मा (कुरूभारती, मेरठ, 1976, पृ0 12–44)
1400 ,, ,, : हरितकृष्ण देव (जर्नल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, भाग 21 पृ0 211–22)
1416 ,, ,, : राधाकुमुद मुकर्जी (हिन्दू सिविलाइजेशन 1/172)
1417 ,, ,, : स्वामीनाथ पाण्डेय
1424 ,, ,, : काशीप्रसाद जायसवाल (जर्नल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, पटना, 1/69–116)
1430 खृष्ट पूर्व : कनिंघम (ऐसियन्ट ज्योग्राफी आव इण्डिया, पृ० 413)
1508 ,, ,, : काले (प्रो० इ० हिस्ट्री कांग्रेस 3।152)
1500 ,, ,, : शंकर वालकृष्ण दीक्षित (भारतीय ज्योतिष 167–178)
1922 ,, ,, : सतीशचन्द विद्याभूषण
1931 ,, ,, करन्दीकर + पाण्डुरंग काणे (प्रो0ओ0कां0 12/2/6–8)
2442 ,, ,, : राजाराम (भारतीय विद्या 10/104–132)
2449 ,, ,, : सेनगुप्त (ज0रा0ए0 सो0 बंगाल, लेटर्स 3/101 तथा 4/393)
3000 ,, ,, : अभयंकर (ए0भ0ओ0रि0इ0 35/116–36)
3016 ,, ,, : अथबले
3038 ,, ,, : चिदम्बर ऐयर (ए0भ0ओ0रि0इ0 38/83–101)
3067 ,, ,, : ऐंयगर+शेषगिरि राव
3102 ,, ,, : चिन्तामणि विनायक वैद्य (हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर 4/408)
3138 ,, ,, : अभयंकर, भगवद्दत्त, युधिष्ठिर, रवीन्द्र कुमार

कृष्णमाचार्य
3140 '' '' : शशांकभूषण राय (प्रो0इ0हि0कां0 4/115)
3148 '' '' : चन्द्रकान्त बाली
3162 '' '' : जगन्नाथ राव
5528 '' '' : केतकर (प्रो0आ0इ0 ओ0कां0 1/452–8)
6000 '' '' : टाल व्याय व्हीलर
19000 '' '' : गोविन्द दीनानाथ चुलैट

भूल जो हुई :

इन विद्वानों ने विभिन्न तिथियों की कल्पना या तो सिकन्दर–चन्द्रगुप्त मौर्य की समकालिकता मानकर, या केवल ज्योतिर्गणना के आधार पर की है। इन सभी विवादों की जड़ है सिकन्दर के समय समकालिक सन्द्राकुत्तस का चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ समीकरण, जो भारतीय इतिहास की भयंकर भूल है। वास्तव में सिकन्दर का भारतीय समकालिक सन्द्राकुत्तस या सन्द्राकुप्तस है – चन्द्रगुप्त या समुद्रगुप्त, न कि चन्द्रगुप्त मौर्य।

अतः यदि चन्द्रगुप्त मौर्य का काल निश्चित हो जाता है तब नन्दवंश का काल भी निश्चित हो गया क्योंकि नन्दवंश के बाद ही चन्द्रगुप्त मौर्य गद्दी पर बैठा । क्योंकि यूरोप के इतिहास में सिकन्दर का काल निश्चित है भले ही भारतीय साहित्य में कहीं भी सिकन्दर का नामोनिशान या लुप्त संकेत न मिले।

नन्द परीक्षित :

महाभारत युद्ध का काल पुराण के निम्न श्लोक के आधार पर किया जाता है :–

महापद्माभिषेकात्तु जन्म यावत् परीक्षितः।
एकं वर्ष सहस्रं तु ज्ञेयं पञ्च शतोत्तरम् ।।
––भागवत

परीक्षित् के जन्म से महापद्म के अभिषेक काल तक 1501 वर्ष जानना चाहिए। किन्तु विद्वानों ने इस अभ्यन्तर काल को 515, 550, 850, 950, 1050, 1115, 1500, 1502, 1503, 1510 या 5500 वर्ष माना है।

आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार सिकन्दर चन्द्रगुप्त मौर्य का काल खृ० पू० चतुर्थ शती है। सिकन्दर का भारत–आक्रमण यूनान के इतिहास में एक निश्चित काल है। अतः चन्द्रगुप्त मौर्य का काल भी निश्चित हो गया। इसे इतिहास का आधार स्तंभ मान लिया गया। इसी कारण नन्दवंश के संस्थापक महापद्म का काल 362 (322+40) या 422 (322+100) ख० पू० मान लिया गया तथा विद्वानों ने परीक्षित का जन्म या महाभारत युद्ध–काल विभिन्न समय में माना ।

अनेक पुराण–टीकाकार इस श्लोक का ठीक अर्थ समझने में असफल रहे क्योंकि सभी को ज्योतिर्गणना का ज्ञान न था । वे इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि इस श्लोक का अर्थ 1468 या 1500 वर्ष करना चाहिये । वे नन्द के पूर्व वंशों के राजाओं का काल निम्न प्रकार करते हैं

बाहद्रथ वंश के 32 राजाओं ने 1001 वर्ष राज्य किया।
प्रद्योत वंश के 5 '' '' 138 '' '' ''
शिगुनाग वंश के 12 '' '' 362 '' '' ''

इस प्रकार इन तीन वंशों के 49 राजाओं ने कुल 1501 वर्ष राज्य किया।

नक्षत्र–गणना :

किन्तु पौराणिक इतिहासकार बहुत समझदार थे। वे नहीं चाहते थे कि श्लोक के अर्थ को लोग अनर्थ कर दें अतः उन्होंने ज्योतिष का प्रतिबंध निम्न प्रकार से कर कर दिया

यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां महर्षयः।
तदा नन्दात् प्रभृत्येष कलिवृद्धि गमिष्यति ।। –भागवत

(जब सप्तर्षि मण्डल मघा से पूर्वाषाढ नक्षत्र में पहुँचेगा तब नन्द के काल से कलियुग अत्यन्त प्रचण्ड हो जायगा ।)

एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र तक पहुँचने में सप्तर्षि मंडल को पूरे 100 वर्ष लगते हैं। यदि घटीचन्द्र के अनुसार सप्तर्षियों का चलना बायें से दायें माना जाय तब केवल 11 ही नक्षत्र इस अभ्यन्तर काल में होंगे, यथा मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा । अतः यह अभ्यन्तर काल प्रायः 1100 वर्षों का ही होगा।

किन्तु सप्तर्षिमंडल की गति विपरीत क्रम में दायें से बायें दिशा की ओर होती है। प्रत्यब्दं प्राग्गतिस्तेषां (प्रत्येक वर्ष वे पीछे की ओर खिसकते हैं) आधुनिक ज्योतिष का प्रेसेसन (Preccssion) भी इसकी पुष्टि करता है, अतः मघा से पूर्वाषाढा तक नक्षत्रों की संख्या 16 होगी यथा–आश्लेषा, पुष्य, पुनर्वसु, आद्रा, मृगशिरा, रोहिणी, कृत्तिका, भरणी, अश्विनी, रेवती, उत्तराभाद्रपद, पूर्वाभाद्रपद, शतभिक, घनिष्ठा, श्रवण, तथा उत्तराषाढा । अतः महापद्म का काल होगा खृ० पू० 1636 (3137–1501)

शक–काल :

कल्हण, वराहमिहिर व गर्ग एक प्राचीन आर्या का अवलम्बन करते हैं–

आसन् मेघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
षड् द्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्यस्य।।

(जब राजा युधिष्ठिर राज्य करते थे तब सप्तर्षि मण्डल मघा में था, शक... काल के आरम्भ तक उस राजा के 2526वर्ष बीत गये।) इस आर्या का अर्थ भी विद्वानों ने किया है यथा 650 (26 x 25), 1650 (66 x 25), 2512, 2526, 2566, 5555550 (222222 x 25) या 4938217284 (222222 X 22222)। फ्रेजर के अनुसार गर्गाचार्य खृष्ट पूर्व दूसरी शती से पहले हुए अतः उस समय शालिवाहनशक (जिसका आरम्भ 78 ई0 में माना जाता है) के उदय का प्रश्न ही नहीं उठता । मद्रास के थिरुवेकटाचार्य के अनुसार यह. आन्ध्रशक है जिसका प्रारम्भ खृ0 पू0 550 में हुआ, अतः यदि हम इसे आन्ध्रशक मानते हैं तो युधिष्ठिर का काल होगा 3076 खृ0 पू0 (2526+550) क्योंकि युधिष्ठिर ने 36 वर्षों तक राज्य करने के बाद

सिंहासन छोड़ दिया तथा 25 वर्षो तक तीर्थ यात्रा करते हुए 3076 (3101–25) खृ0 पू0 संसार से विदा हुए।

शिला लेख :

प्रस्तर तथा ताम्रपत्रों के अभिलेख से भी सिद्ध होता है कि महाभारत युद्ध ई0 पू0 32वीं शती में हुआ । कामरूप के भास्कर वर्मा का निधानपुर ताम्रपत्र महाभारत युद्ध के 3000 वर्ष के बाद 12 राजाओं का नाम देता है यह भाष्कर वर्मा हर्षवर्द्धन का समकालिक था। पुलकेशिन के ऐहोल शिलाभिलेख से प्रकट है कि 3735 कलि संवत् में 556 शक वर्ष बीत गये थे। अतः कलियुग का प्रारम्भ (3735–556–78) 3101 खृ0 पू0 में हुआ। महाभारत–युद्ध युधिष्ठिर–काल एवं कलियुग प्रारंभ प्रायः समान हैं। अपितु नेपाल के सुमति तंत्र तथा अन्य अभिलेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि यह महासमर 32वीं शती ई0 पू0 में हुआ। ये अभिलेख हैं–

जयसलमेर प्रशस्ति हनुमान मन्दिर में।
जन्मेजय अभिलेख।
हिस्सा बोरला अभिलेख देवसेन का (परिषद् पत्रिका 19।2।143–45)।
इबाली अभिलेख धारवार के मन्दिर में।
कुन्ती मन्दिर अभिलेख इन्द्रप्रस्थ में।

आइने अकबरी :

अबुल फजल का आइने अकबरी कहता है कि दीने इलाही के 40वें वर्ष में (1555+40) या 1595 ई0 में 4696 वर्ष युधिष्ठिर के समय से बीत गये थे। सभी पञ्चागों तथा ज्योतिषग्रन्थों में कलियुग का प्रारम्भ काल खृ0 पू0 3101 ही मिलता है।

द्वापरान्त :

भारत के प्राचीन ग्रन्थों में कलियुग के प्रारम्भ के विषय में कहीं भी मतभेद नहीं है। केवल कल्हण ही कहता है कि कलि संवत् 653 के बाद कौरव पाण्डव (3101–653) 2448 खृ0 संवत् में हुए किन्तु वह स्वयं कहता है कि उसकी बात को कोई मानता नहीं, क्योंकि सभी लोग मानते थे कि महाभारत युद्ध द्वापर के अन्त में हुआ था। कुछ आधुनिक इतिहासकार

कहते हैं कि ये सभी अभिलेख छठी शती के बाद के हैं। वे केवल परम्परा तिथि का उल्लेख करते हैं अतः अविश्वसनीय हैं। किन्तु भला हम किस प्रकार एक विदेशी के कथन को स्वीकार कर लें जिसने 1794 ई0 में संस्कृ त का अल्पज्ञान होने से केवल सुझाव दिया कि सन्द्राकुत्तस चन्द्रगुप्त मौर्य हो सकता है जब चन्द्रगुप्त मौर्य के सिवा उसे कभी अन्य चन्द्रगुप्त का ज्ञान ही न था।

अन्तरंग प्रमाणों से भी सिद्ध है कि महासमर कलि प्रारंभ होने के 36 वर्ष पूर्व हुआ था। गान्धारी ने कृष्ण को शाप दिया कि युद्ध के 363 वर्ष में तुम्हारे कुल का सत्यानाश हो जायेगा। कलि का प्रारम्भ ही प्राचीन रोम, यूनान, चीन, मिश्र, अरब व मेक्सिकों में गणना का आधार रहा है।

खृष्ट पूर्व 3101 में 26 फरवरी को दो बजकर 27 मिनट 30 सेकण्ड पर सूर्यचन्द्र तथा पांच अन्य ग्रहों का सम्मेलन वृष राशि पर हुआ था। सिल्बन बेली ने इस संक्रमण को गणना से ठीक बतलाया था।

पुरातत्व साक्ष्य का अभाव :

पुरातत्त्वों का अभाव हमें खटकता है किन्तु इसके अनेक कारण हैं। क्या कोई भी पुरातत्त्व कह सकता है कि भारत युद्ध से सम्बद्ध ही स्थान का उत्खनन हुआ है। 60 फीट लम्बा व 60 फीट चौड़ा खाई खोदने. से केवल सतह का पता लगेगा न कि वसति का । अभी तक जितनी भी खुदाई हुई है सभी समानान्तर सतह की, न कि गहराई की (Vertical), अपितु भूवैज्ञानिकों के अनुसार तथा भूकम्प के अनुसार युद्धस्थल भी सुदूर उत्तर चला गया होगा। सम्भव है हिमालय या तिब्बत से पार चीन तक पहुँच गया हो।

फ्लेट टेकटानिक :

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के भू–विज्ञान प्राध्यापक विजय कुमार गैरोला के अनुसार हिमालय पाँच महाभूकम्प से प्रभावित है। फ्लेट टेकटानिक से पर्वतों का अभ्युदय हुआ। यह पृथ्वी 100 किलोमीटर मोटे 6 परतों से बनी है। ये परत सतत चलायमान है। इनकी अपनी गति है तथा पृथ्वी की गति से प्रभावित होती है । ये परत तीन प्रकार की है

निर्माणक, विनाशक तथा रूढि। जब दो परत आपस में मिलते हैं तो 45 अंश का कोण बनाते हुए एक परत दूसरे के नीचे चला जाता है।

इन परतों की गति प्रतिवर्ष 3 से 5 सेन्टी मीटर तक होती है किन्तु पर्वत श्रेणी के बनाने में 15 सेन्टीमीटर की गति भी मिलती है अतः गत 5000 वर्षों में संभवतः उक्तस्थल अपने पूर्व स्थल से अब तक (5000 X 15) 75000 सेन्टीमीटर या 750 मीटर दूर चला गया होगा।

जल प्लावन :

अपितु मेरठ जिले का हस्तिनापुर नगर जल प्लावन से 2821 ई0 पू0 में बह गया था तब राजा तिचक्षु ने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया। बहुमूल्य सोने व चाँदी को लोग गला कर काम में लाते हैं तथा लोहे में मुरचा लग जाता है अतः पुरातत्त्व के अवशेष कम ही मिल पाते हैं। पुरातत्त्व के अवशेष सौभाग्य से मिलते हैं। भारत की भूगर्भ स्थिति की आर्द्रता, इसके जैविक प्राणी तथा पृथिवी की लवणता के कारण किसी भी भौतिक वस्तु की प्राप्ति में बाधक हैं। जब कार्बन का संसर्ग जलाशय से होता है तब उसके एलेक्ट्रानिक रेडियो द्रव्य का ह्रास होता है। कार्बनडाइ आक्साइड वायुमण्डल में घुल जाता है। झील, नदी तथा जल–प्लावन क्षेत्रों में कार्बन अपने चौथाई अंश मे भी कम हो जाता है। अतः महाभारतकालीन किसी भी प्रकार की काष्ठ वस्तु या विनशनशील वस्तु की प्राप्ति दुर्लभ है।

युद्धारम्भ :

हम महाभारत युद्ध की निश्चित तिथि की गणना कर सकते हैं। कौरव सेना के महारथी भीष्म पितामह युद्धारम्भ के 10 वें दिन धराशायी हुए तथा 58 दिनों तक बाणों की शय्या पर पड़े रहे। भीमाष्टमी माघ शुक्ल अष्टमी को मनायी जाती है। अतः यदि हम माघ शुक्ल अष्टमी से पीछे की ओर गणना करते हैं तो युद्ध का आरंभ मंगलवार मार्गशीर्ष अमावस्या 36 वर्ष कलि पूर्व आता है अर्थात् 14 नवम्बर 3137 ई0 पू0 में युद्ध का आरंभ हुआ। (8+15+30+15) उस तिथि को अंगारक वार कहते हैं । अतः महाभारत का युद्ध आज से 5122 वर्ष पूर्व (5086+36) हुआ।

युद्धस्थल :

इस युद्ध को कुरुक्षेत्र का भी युद्ध कहते हैं किन्तु कुरुक्षेत्र नाम का कोई गांव या नगर नहीं है। हरियाणा में विशाल लम्बे मैदान हैं। जहाँ यह युद्ध हुआ। पानीपत, करनाल, कैथल, तराइन सभी इसी हरियाणा में है। कुरुक्षेत्र नामक एक विश्वविद्यालय थानेश्वर के पास हाल में स्थापित हुआ तथा कुरुक्षेत्र नाम का रेलवे स्टेशन भी है।

भगवद्गीता का पाठ सर्वप्रथम ज्योतिसर में हुआ। यह ज्योतिसर थानेश्वर से तीन मील पश्चिम में है। सूर्य–ग्रहण के समय सहस्रों तीर्थ–यात्री यहाँ जुटते हैं। वहाँ सरोवर में स्नान करते हैं, यहाँ एक वटवृक्ष भी है। यहाँ शिव व काली के प्राचीन मन्दिर भी हैं। अनेक मन्दिरों को मुसलमानों ने ध्वस्त कर दिया है। यह तीर्थ पृथूदक (पिहोवा) से स्थानेश्वर के पथ पर है। कुरुक्षेत्र सरस्वती व द्दषद्वती नदी की अन्तर्वेदी है। इसे ब्रह्मावर्त भी कहते हैं। यहां सूर्य व अदिति के भी मन्दिर है । यहीं पर एक स्थाणुतर्थ है जहाँ युद्ध आरम्भ होने के पूर्व श्रीकृष्ण ने शिव की पूजा की थी। इस सरोवर के जल से राजा वेण कुष्ठ रोग से विमुक्त हो गये थे।

इसी ज्योतिसर के पास अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था जिसे कृष्ण ने निस्तेज कर दिया। आचार्य सुशील कुमार तिरवी दिल्ली विश्वविद्यालय के भौतिकी के प्राध्यापक हैं। उनके अनुसार इस स्थल पर रेडियो का प्रभाव 10^9 है जहाँ अज्य स्थलों पर 10^3 ही है।

अतः कहा जा सकता है कि महाभारत–युद्ध का प्रारम्भ मंगलवार 14 नवम्बर को 3137 ई0पू0 में गीता के प्रवचन से ज्योतिसर में हुआ जिसमें विश्व के 85 नरेशों ने भाग लिया था। इसी को भारतीय इतिहास का आधार मानकर इतिहास लिखने का प्रयास करना चाहिए। .

सन्दर्भ :

1. (क) फाइव थाउजेण्ड इयर्स एगो–दी महाभारत वार, जर्नल आव इण्डिरन हिस्ट्री, मद्रास, भाग 16 पृ0 236–48।
   (ख) डेट आव भारत वार, काणे स्मारक ग्रंथ, 1970 पृ0 515–25।
2. डेट्स आव भारत वार, वा0 वि0 मिराशी कृत, जर्नल आव ओरियंटल रिसर्च, बरोदरा, 25 ।286–98।

3. इनटरवेनिंग एज विटवीन परीक्षित एण्ड नन्द, ज0 इ0 हिस्ट्री 19 ।1–16।
4. ए न्यू सीट ऐंकर आव हिस्ट्री, भारतीय विद्या, 6 ।117–23
5. रिवाइज्ड क्रानोलाजी आव काश्मीर किंग्स, ज0इ0हि0 18 ।48–63।
6. डेट आव कुरुक्षेत्र वार, अमरनाथ चन्दा कृत, 1978 कलकत्ता।
7. कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रपाठक डॉक्टर परमानन्द गुप्त का पत्र दिनांक 12/2/85
8. सम ग्लिम्पसेस आव इण्डियन बुक गैलरी, ७६१, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली–2 ।1984
9. इण्डियन क्रानोलाजी, भारतीय विद्याभवन, बम्बई–7 ।1963।

त्रिवेद भवन
लंका,
वाराणसी–5

आचार्य शंकर का शक्तित्व विमर्श

पद्मभूषण पण्डित बलदेव उपाध्याय

आचार्य शंकर की 1200वीं जयन्ती के शुभ अवसर पर आचार्य बलदेव उपाध्याय पद्मभूषण का प्रस्तुत लेख 'सुमन' उस आत्मा की स्मृति में समर्पित श्रदाञ्जलि है, जिसने सम्पूर्ण दर्शन जगत को आलोकित कर दिया है।

शंकराचार्यपादानां तन्त्रशास्त्रीयचिन्तनम्।
स्वीयग्रन्थेषु निर्दिष्टं स्पष्टमत्र विचार्यते।।

परव्राजकाचार्य आचार्य शंकर अद्वैत वेदान्त के जितने महान सूक्ष्म विवेचक तथा महनीय आलोक शिरोमणि थे, तन्त्रशास्त्र के भी वे उतने ही मर्मज्ञ आचार्य अन्तरालोडननिष्णात विद्धान् तथा तान्त्रिकविज्ञानवेत्ता थे। अद्वैत वेदान्त के इतिहास में उनके ग्रन्थ नितान्त प्रामाणिक एवं प्रख्यात है। शाक्त तन्त्र के अन्तर्गत त्रिपुरा सम्प्रदाय में भी उनकी रचनायें गम्भीर तथा विश्रुत है। आगम को निगम से एकान्ततः भिन्न मानने वाले आलोचकों की कमी नही है परन्तु यथार्थतः दोनोंका मंजुल सामरस्य ही निगमागमनमूलक भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। मूलतः अन्वेषण करने पर वैदिक संहिताओं के मन्त्रों में तान्त्रिक तथ्यों की उपलब्धि आश्चर्यप्रसू नही है। कतिपय तथ्यों का ही यहाँ संकेत किया जा रहा है जिससे शाक्त तन्त्र की वैदिक परम्परा की एक दिव्य झांकी हमारे नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो जाती है।

<u>श्रीविद्या का वैदिक स्त्रोतः</u>

श्रीविद्या का मूल तन्त्र संकेत ऋग्वेद के इस मन्त्र में सद्यः उपलब्ध होता है-

त्वारि ई बिभ्रति क्षेमयन्तो दश गर्भे चरसे घाययन्ते।
त्रिघातवः परमा अस्य गावों दिवश्चरन्ति परिसद्यो अन्तान्।।

-ऋग्वेद, 5/47/4

सायणाचार्य ने इस ऋचा का अधिदैविक अर्थ सूर्यपरक किया है, परन्तु इसके दोनों आदिम पद मूल विद्या की ओर यहां स्पष्ट रूप से संकेत करते है। सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर का यह कथन इसका पक्का प्रमाण है। षोडशकलात्मकस्य श्रीबीजस्य गुरू सम्प्रदायवशाद् विज्ञेयस्य स्थित्वात् चतुर्णामीकाराणां सिद्धेः मूलविद्याः वेदस्थितत्व सिद्धम (सौन्दर्यलही के पंचम श्लोक की व्याख्या)।

तैत्तिरीय संहिता, ब्राहम्ण एव आरण्यक में इस तथ्य के पोषक-प्रमाणों का नितरां बाहुल्य है, तैत्तिरीय आरण्यक (1 प्रश्न1-21) में उपलब्ध अरूणोपनिषद अरूणानाम्नी भगवती के कार्यकालप एवं माहात्म्यं का स्पष्टतः वर्णन करता है। इस अरूणोपनिषद के द्रष्टा ऋषि का नान 'अरणकेतु' है। अरूणा भगवती का वर्णन शंकराचार्य ने सौन्दर्यलहरी में इस रमणीय पद्य के द्वारा किया हैः-

अराला केशेषु प्रकृतिसरला मन्दहसिते
शिरीषाभा चित्ते दृषदुपलशोभा कुचतटे।
भृशं तन्वीमध्ये पृथुरूरसिजारोहविषये
जगत् त्रातु शम्भोर्जयति करूणा काचिदरूणा।।

दोनों वर्णनों के तारतम्यपरीक्षण से दोनों की समस्या में कोई अन्तर नही प्रतीत होता। भगवती के चरणयुगल के अन्तराल से प्रवाहित होने वाले सुधाधारा (सो. ल. पद्य 10) के लिए तैत्तिरीय ब्राहम्ण (3।12।3) का यह मन्त्र देखिये-

लोकस्य द्वामचिंमत् पवित्रं ज्योतिष्मत् भ्राजमानं महस्वत्।
अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं चरणं नो लोके सुधितान् दधातु।।

दर्शआद्य पूर्णिमान्ता तिथियों के लिये देखियो तैत्तरीय शाखा के काठक ब्राहम्ण का 'इयं वाव सुरघा' अनुवाक तथा 'सज्ञानं विज्ञानं मन्त्र (तैत्तिरीय ब्राहमण 3।10।1) इस प्रकार के वैदिक स्त्रोतों का अन्वेषण लक्ष्मीधर की व्याख्या के अन्वेषण से किया जा सकता है यहाँ केवल सूचना दी गयी है।

वैदिक युग के अनन्तर यह धारा आगे बढ़ती गई। इस युग में शुभागम पंचक नामक ऋषि प्रणीत पाँच ग्रन्थों की उपलब्धि होती है। वसिष्ठ संहिता, सनक संहिता, शुक संहिता, सनन्दन संहिता एव सनत्कुमार संहिताये पांचों संहिता, शुभागम पंचक के नाम से प्रसिद्ध है। इन ग्रन्थों के प्रमाण तन्त्रग्रन्थों में बहुलता से उपलब्ध होते है। में सौन्दर्यलहरी की पूर्वोक्त व्याख्या में इनके उद्धरण मिलते है, जिससे 16 शती के पूर्व इन ग्रन्थों की सत्ता अनुमानतः सिद्ध होती है।

इसके अनन्तर शंकराचार्य के गुरू गोविन्दाचार्य के गुरू आचार्य गौड़पाद की रचना श्रीविद्या के विकास के निर्मित उपलब्ध होती है। इनकी दो तान्त्रिक रचनाएँ प्रकाशित है जिनमें एक है श्रीविद्यारत्न सूत्र जो सूत्रात्मक है। इसके टीकाकार श्री शंकराचार्य है और दूसरी है सुभगोदय स्तुति। यह स्तुति दो प्रकार की है। श्लोकों की संख्या 42 है। एकतो है लम्बे छन्दों में और दूसरा है केवल अनुष्टुप छन्द में प्रथम प्रकार के छन्द का नमूना देखिये।

भवानि त्वां वन्दे भवमहिषि सच्चित् सुखवपुः
पराकारां देवीममृतलहरीमैन्दवकलाम्।
महाकालातीतां कलितसरणीकल्पिततनु
सुधासिन्धोरन्तर्वसतिमनिशं वासरमयीम्।।

अनुष्टुप छन्दों वाले ग्रन्थ का निर्देश लक्ष्मीधर ने अपनी पूर्वोक्त व्याख्या में किया है जिस पर शकराचार्य की तथा लक्ष्मीधर की भी व्याख्यायें थी। सौभाग्यभास्कर से पता चलता है कि लल्ल की भी इस पर टीका थी। वासनासुभगोदय नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है-

तदुक्तं वासनासुभगोदये-

दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताद्याः कलाः पञ्चदशैव तु।
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी ।।4।

आचार्य शंकर की तान्त्रिक रचनायेः-

गौडपादाचार्य की इन रचनाओं का प्रभाव आचार्य शंकर के ऊपर पर्याप्तरूपेण लक्षित होता है। एक तथ्य ध्यातव्य है कि जिस प्रकार गौडपाद के ग्रन्थ में अद्वैत वेदान्त के साथ त्रिपुरातन्त्र का मञ्जुल सामरस्य है, उसी प्रकार शंकराचार्य ने अद्वैत ग्रन्थों की रचना के साथ ही साथ श्रीविद्या विषयक ग्रन्थों का भी निर्माण किया। आचार्य के दो ग्रन्थ प्रसिद्ध है- (1) प्रपञ्चसार तथा (2) सौन्दर्यलहरी। इनके अतिरिक्त शंकराचार्य के स्तोत्रों में, विशेषतः देवीविषयक स्तोत्रों में शाक्त तन्त्र की स्पष्टतः झलक दृष्टिगोचर होती है। ऐसे स्तोत्रों में दक्षिणामूर्तिस्तोत्र तथा मीनाक्षीस्तोत्र उल्लेखनीय है ललितात्रिशतीभाष्य तो पुंखानुप्रखं त्रिपुरा सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से मण्डित एव अभ्यर्हित है। प्रपञ्चसार के ऊपर आचार्य के साक्षात् शिष्य पद्म परूदाचार्य की विवरण नाम्नी टीका की सत्ता इसे शंकराचार्य की प्रमाणिक रचना सिद्ध करने में सर्वथा समर्थ है। 33 पटलों में विभक्त इस तन्त्र ग्रन्थ में अढ़ाई हजार के ऊपर श्लोक है जो मुख्यता अनुष्टुप ही है। कहीं-कहीं बड़े छंन्द भी है, परन्तु उनकी संख्या न्यून है। इसके आरम्भ के एकादश पटलों में तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध तथ्यों का विवरण है तथा अन्य पटलो में नाना मन्त्रों से देवता रूप, जप, फल तथा अनुष्ठान विधि का व्यवस्थित वर्णन मिलता है। सूतसंहिता और पराशर संहिता की टीका में माधवाचार्य ने प्रपंचसार को शंकराचार्यकृत माना है। शारदातिलक की टीका में राघवभट्ट भी यही कहते है। सम्मोहन तन्त्र में शंकर और उनके चार शिष्यों का वर्णन है। सौन्दर्यलहरी के शंकराचार्य की रचना होने में प्रचुर प्रमाण उपलब्ध है। आचार्य ने गौडपाद के सुभगोदय के अनुकरण में इस लहरी का निर्माण किया था इस ग्रन्थ के ऊपर तीस के आस-पास टीकायें है। सर्वप्राचीन टीका आचार्य के पट्टशिष्य सुरेशवराचार्य की है। श्रृंगेरी मठ में इस टीका की अतिप्राचीन प्रति आज भी उपलब्ध है। अवान्तर टीकाओं में लक्ष्मीधर की व्याख्या बड़ी ही प्रांजल, रहस्यप्रकाशिका तथा प्रामाणिक है। ये उत्कल के मध्ययुगीन विख्यात शासक

राजा प्रताप रूद्रदेव के आश्रित थे। जो आन्ध्र के विद्या प्रेमी भूपाल राजा कृष्ण के समकालीन तथा जमाता भी थे (समय 16 शती) सौन्दर्यलहरी के आरम्भ के 41 पद्य श्रीविद्या के गम्भीर रहस्यों के प्रतिपादक है तथा अन्तिम 59 पद्य भगवती ललिता के ललित विग्रह के साहित्यक वर्णनपरक है। इन दोनों ग्रंथों के स्वरूप में भिन्नता नितान्त स्पष्ट है। प्रपंचसार एक समग्र तन्त्र ग्रंथ है जिसमें तन्त्रोक्त नाना देवियों की उपासना का पूर्ण विधान दिया गया है। साथ में तन्त्र के सामान्य तथ्यों का विवरण भी उसकी पूर्णता के लिये दिया गया है। सौन्दर्य लहरी केवल श्रीविद्या का प्रतिपादक होने से त्रिपुरा समुदाय के तन्त्रसम्मत तथ्यों का ही विशिष्ट विवरण प्रस्तुत करती है। यह स्त्रोत मात्र है, परन्तु प्रपञ्चसार का क्षेत्र विस्तृत है। ग्रंथ के आरम्भ में शारदा की प्रार्थना है।

अकचटतापयाद्यैः सप्तभिर्वर्णवर्गैः
विरचित मुखवाहापादमध्याख्यहृत्का।
सकल जगदधीशा शाश्वता विश्वयोनि
वितरतु परिशुद्धि चेतसः शारदा वः ।।

उपान्त्य पद्य में यह तन्त्र ग्रंथ सभी अपने वर्णनीय विषयों का भी संक्षिप्त संकेत एक ही पद्य में इस प्रकार करता है-

इत्यं मूलप्रकृत्यक्षरविकृति-लिपव्रातजातग्रहक्ष।
क्षेत्राद्यावद्धभूतेन्दियगुण-रविचन्द्राग्निसंप्रोतरूपः
मन्त्रोस्तद्वताभिर्मनिभिरचिजपध्यानहो मार्यनाभि
तंन्त्रेअस्मिन् यन्त्रमेदैरपि कमलज हे दर्शितोअयं प्रपंचः ।।

(प्रपंचसार 33/62)

सौन्दर्यलहरी सिद्धग्रंथ है। इसके प्रत्येक श्लोक मन्त्ररूप है। इसीलिए अभीष्ट सिद्धि के लिए विशिष्ट यन्त्रों के साथ इन श्लोकों के जपने की विधि परम्परा ने निर्धारित की गई है। मैसूर संस्कृतसीरीज में लक्ष्मीधर की व्याख्या के साथ प्रकाशित इस ग्रन्थ में ये यंन्त्र भी विधिविधान के साथ दिये गये है।

प्रपंचसार मूल का प्रकाश श्रीरंगम् से शंकराचार्य ग्रन्थावली के अन्तर्गत किया है दो 19वें तथा 20वें भागों में।

<u>शक्ति की महिमाः</u>-

आचार्य शंकर की मान्यता है कि शक्ति से संयुक्त होने पर ही शिव विश्व की रचना तथा संरक्षण कार्य में समर्थ होते है। यदि शक्ति के संयोग का अभाव हो, तो वे स्पन्दन करने में भी समर्थ नही है- वे हिलडुल भी नही सकते है। शक्ति का तान्त्रिक बीज "इकार" है। शिव शब्द से यदि इकार को निकाल दिया जाय, तो शिव 'शव' बन जाता है, एकदम निर्जिव प्राणी जो अपने अंग भी हिलाडुला नही सकता है, अन्य कर्मों को तो कथा ही नही। सौन्दर्यलहरी का आदि पद्य ही इस तथ्य की अभिव्यक्ति करता है-

शिवः शक्त्या युक्तों यदि भवति शक्तः प्रभवितु।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।।

तन्त्राशास्त्र की सर्वमान्य कल्पना है जो तन्त्र ग्रन्थों में बहुशः अभिव्यक्त है गौडपादाचार्य ने अपनी "सुभगोदयस्तुति" में इसे इस पद्य के द्वारा प्रकट किया है-

परोअपि शक्तिरहितः शक्तः कतु न किंचन।
शक्तः स्यात् तुं परमेशानि शक्त्या युक्तयों भवेद यदि।।

लक्ष्मीधर व्याख्या में उद्धत पृष्ठ 29

यह शक्ति शिव के साथ सहस्त्रार पद्म मे निवास करती है। मूलाधार में भी दोनों का का नृत्य होता है जिससे जगत की सृष्टि होती है। शंकर ने षडचक्रों के रूप तथा भेदन प्रकार का भी विशद वर्णन किया है तथा श्रीचक के स्वरूप का भी (श्लोक 11)

शक्तिवाद का यह सिद्धान्त आचार्य द्वारा उनके ग्रन्थों में भी वर्णित है। ब्रहमासूत्र के भाष्य में आचार्य का कथन है-

न हि तया बिना परमेश्वरस्य सृष्टत्वं सिध्यति।
शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्यनुपपत्तेः ।।

ब्रह्म की विविधरूपिणी शक्ति के कारण ही सृष्टि में विभिन्नता दीखती है, एकस्यापि ब्रह्मणों विचित्रशक्तियोगाति वीरादिवत् विचित्रपरिणाम उपपद्यते (ब्रह्मसूत्र भाष्य 2/2/24)

शक्तिमतानुसार शिव ही अपनी शक्ति के द्वारा विश्वरूप हो जाते है। दूसरे शब्द में शिव अपनी अपरिच्छिन्न सत्ता को त्याग कर परिच्छन्न जीव बन जाते है और इस प्रकार संसार के सुख-दुःखों का उपभोग करते है। वस्तुतः शिव को जीव रूप में भोग के लिए जिन उपकरणों की आवश्यकता होती है- शरीर, इन्द्रियों, मन, बद्धि तथा अहंकार की इन रूपों के भगवती शक्ति स्वयं ही प्रकट हो जाती है। शंकर इसका विवेचन इस पद्य में करते है-

मनस्त्वं व्योम त्वं मरूदसि मरूत्सारथिरसि
त्वमापः त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां न हि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिप्पमयितु विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुक्ति भाभावेन विभृष।। सौन्दर्यलहरी,35

तथ्य तो यह है कि आचार्य शंकर की दृष्टि में विश्व का कारणभूत ब्रह्म निस्सन्देह शक्ति से अभिन्न है और शक्ति भी कारणभूत ब्रम्ह से भिन्न नही है, क्योंकि अन्ततोगत्वा कारण शक्ति तथा कार्य एक ही है। शंकर का कथन है- कारणभूत। शक्तिः शक्तेश्च आत्मभूतं कार्यम्। श्वेताश्वतर उपनिषद ईश्वर का कोई लिंग जाति नही बतलाती है। नैव स्त्री न पुमानेषः (5/10) किन्तु फिर भी वह पुरूष भी हो सकता है, स्त्री भी हो सकता है, कुमार तथा कुमारी भी-

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।।

इसी विचारधारा को शंकराचार्य ने अपने ललिता त्रिशतीभाष्य में भी विशद रीति से प्रतिपादित किया है-

चकारः निर्गुणब्रम्हणोअपि ब्रह्मविशेषणसद्भावसमुच्चयपरः सर्वत्रापि द्रष्टवयः

"सच्चिन्मयः शिवः साक्षात तस्यानन्दमयी शिवा" इति वचनेन "स्त्रीरूपां चिन्तयेद् देवीं परूषमथवेश्वरीम्"। अतएव "सेयं देवतैक्षत (छान्दोग्य 6/3/2) इत्यादौ, त्वं स्त्री त्वं पुमानसि इति (श्वेत0 4/3) उपाधिकृतनानारूपसम्भवोक्तेश्च। अतएव "सेयं श्वेता ऐक्षत इत्यादौ" तत् सत्य स आत्मा इत्यन्ते च श्रुतौ स्त्रीलिंगन्तदेवतादि पदानां, तत् सत्यमिति नपुंसकान्तस्य, "स आत्मा" इति पुंलिगन्तशब्दस्य एकार्थत्वम्।

अविवक्षितोपाधित्रयम् तत्वंपदलक्ष्यार्थस्य एकत्वात्। तस्मात् तत्वंलक्ष्यार्थ सवैअपि गुणा वर्णयितु सम्भवन्ती अस्यां त्रिशत्यां ह्रीं इत्यत्र बहवः चकारायांउपात्ताः।

शंकराचार्य के उद्धरण से स्पष्ट है कि वे परब्रह्म को ह्रैवता शब्द द्वारा स्त्रीलिंग तत शब्द के द्वारा नपुंसक तथा पुं आत्मा के द्वारा पुलिंग मानने की शास्त्रीय मान्यता से पूर्ण परिचित थे और इसलिए उनकी दृष्टि में परब्रह्म को शक्ति के द्वारा तन्त्रों में अभिव्यक्त किया जाना कथमपि अनुचित नही है। वे सौन्दर्यलहरी (पद्य 99) में कहते है आगमदेत्ता परम्परा ब्रह्मा की पत्नी, हरि की माया तथा हर की सहचरी भले ही माने, परन्तु तुम्हारा दुरीया रूप इस सबसे विलक्षण है तुम परब्रह्म की महिषी हो तथा शुद्ध विद्या के अन्तर्गत तुम महामाया हो। परब्रम्हा तथा महामाया का प्रयोग ही है।

<u>समया का श्रर्थः</u>

आचार्य पराशक्ति के लिए "समया" शब्द का तथा परमशिव के लिए "समय" अभिधान का प्रयोग करते है। सौन्दर्य लहरी के 31वें पद्य में उनका कथन ध्यान देने योग्य है।

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया
नवात्मानं मन्ये नवरस महाताण्डव नटम्।
उभाभ्यामेताभ्याम् उदयविधिमुद्धिश्य दयया
सनाथाभ्यां जज्ञे जनक-जननी मज्जगद्दिम्।।

मूलाधार में समया अपना कमनीय लास्य दिखलाती है, तो भगवान शंकर नवरसों से समपन्न महाताण्डव नृत्य का प्रदर्शन करते है। इस नृत्य से सृष्टि होती है जिससे माता-पिता वाले जगत का सद्यः सर्जन होता है। इस श्लोकार्थ को ध्यान रखने पर 'समया' नाम की व्युत्पति सद्यः स्फुरति होती है। यह "समय" शब्द कालवाचक नही है, व्युत्पत्ति से 'साम्य को धारण कर्त्री' का अर्थ विद्योतित करता है। शम्भुना साम्यं यातीति समया। शिव के साथ शक्ति का साम्य होता है और शक्ति के साथ शिव का साम्य होता है। फलतः दोनों का समसाम्य है। यह साम्य पंचविध है-

(1) अधिष्ठान साम्य- (एक ही आधार में साम्य, दोनों मूल आधार में स्थिति होने से यह साम्य विद्यमान है)

(2) अनुष्ठान साम्य-(उत्पादन कार्य में दोनों के संलग्न होने से यह साम्य है

(3) अवस्थान साम्य- (दोनों की स्थिति एक प्रकार है, क्योकिं एक ही नृत्य कार्य दोनों द्वारा सम्पन्न होता है)

(4) रूप साम्य - (दोनों जपाकुसुम के समान अरूण वर्ण है। तत्र में वर्णित है-

जपाकुसुमसंकाशो मदधूर्णितलोचनोः।
जगतः पितरो वन्दे भैरवीभरवात्मकौ।।

(5) नाम साम्य- (नाम की समता है- एक का नाम है "समय" तो दूसरे का नाम है समया

इस पंचविध साम्य कि स्थिति शिव और शक्ति में निरन्तर विद्यमान है। सोलह आना रूप में दोंनो आठ-आठ आना है, न कोई इससे अधिक है और न कम है इसीलिए वे समय और समया संज्ञाओं से अभिहित किये जाते है।

<u>समयाचारः</u>

शाक्ततन्त्रों में दो प्रकार का आचार होता है। एक का नाम है समयाचार, तो दूसरे का कुलाचार। प्रथम उपासक "समयी" कहलाते है तो दूसरे

"कौल" दोनों के आचारों में अन्तर है। कौलों की पूजा वहिः पूजा होती है, तो समय मार्गियों का अन्तर पूजा। समयमार्गियों की षट्चक्र की पूजा नियत नही है, वे सहस्त्रकमल में ही पूजा करते है। सहस्त्रकमल पूजा एक बहुत ही रहस्यमयी पूजा है। (द्रष्टव्य सौन्दर्य लहरी का 119 पृ. पर लक्ष्मीधर की व्याख्या)। लक्ष्मीधर का कथन है कि हृदयकमल में भगवती की आराधना से समस्त ऐहिक फलों की प्राप्ति होती है। हों, तर्पण आदि समस्त पूजा हृदयकमल में ही करनी चाहिए।- फलतः समयमार्ग में अनन्तर पूजा से ही ऐहिक (लौकिक) एवं आमुष्मिक (पारलौकिक) फलों की प्राप्ति होती है। अतः वह सर्वदा अनुष्ठेय है कोल मत में ब्राहम पूजा की विधान है जिसमें षोडशोपचार के द्वारा बाहर विशेष रूप से पूजा सम्पन्न की जाती है, परन्तु समयीमत में ब्राम्हा पूजा का सर्वथा अभाव होता है। कोलमत 64 तन्त्रों के द्वारा प्रतिपादित है और लक्ष्मीधर की सम्मति में अवैदिक है जिसमें शूद्रों को भी अधिकार है (द्रष्टव्य सौन्दर्य लहरी का श्लोक)

शंकराचार्य के द्वारा आराध्य भगवती का नाम "त्रिपुरा" भी है जो ललिता, त्रिपुरसुन्दरी, षोडशी नामों से भी प्रख्यात है। दश महाविद्याओं में प्रथम तीन का अतिसय महत्व है और वे है - काली, तारा तथा षोडशी। त्रिपुरा नाम के तन्त्र ग्रंन्थों में अनेक तात्पर्य बतलाये गये है। कामराज विद्या के अधिष्टात्री "श्रीविद्या" का ही वामान्तर त्रिपुरा है। त्रिपुरा का अर्थ है-

(1) त्रि (तीन मूर्तियों में) पूरा (पुरातन) अर्थात् गुणमयातीता त्रिगुणनियन्त्री शक्ति। त्रिपुरार्णव में इस शब्द की निरूक्ति है- मन, बुद्धि तथा चित्तरूपी तीन पुरों में निवास करने वाली शक्ति। त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश) की जननी होने से त्रयीमयी (वेदत्रयी) होने से, महाप्रलय में त्रिलोकों को अपने में लीन करने से जगदम्बा त्रिपुरा नाम से पुकारी जाती है। वामकेश्वर तन्त्र में त्रिपुरा का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है- ब्रह्मा, विष्णु तथा ईशरूपिणी श्रीविद्या के ही ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति

तथा इच्छा शक्ति- ये तीन स्वरूप है। इच्छा शक्ति उसका शिरोभाग है, ज्ञान शक्ति मध्य भाग है और क्रिया शक्ति अधोभाग है। इस प्रकार उसका शक्तित्रयात्मक रूप होने से ही वह जगदम्बा 'त्रिपुरा' कही जाती है। त्रिपुरा राम्बा आत्मशक्ति है। श्रीविद्या ही चिच्छक्ति है। यथार्थ रूप से वेद तथा तन्त्र श्रीविद्या के वास्तव स्वरूप का वर्णन नही कर सकते है। यही आत्मशक्ति रूपिणी श्रीविद्या जब लीला से शरीर धारण करती है, तब वेद शास्त्र उसका निरूपण करने लगते है। अखिल प्रमाणों की प्रमात्री वही शक्ति चिच्छक्ति, नाम से व्यवहृत की जाती है।

"त्रिपुरा" नामकरण के लिए ऊपर जो कारण बतलायें गये है, उन सबका एकत्र वर्णन शंकराचार्य के "प्रपंचसार" के अष्टम पटल के द्वितीय पद्य में किया गया है-

त्रिमुर्तिसर्गाच्च पुराभवत्वात् त्रयीमयच्वाच्च पुरैव दैव्याः।
लये त्रिलोक्या अपि पूरणत्वात् प्रायोअम्बिकाया त्रिपुरेति नाम।।

एक स्तुतिमय पद्य में भी इस तत्व को दुहराया गया है-

त्रिमुखि त्रयीस्वरूपं त्रिपुरे त्रिदशामिवन्विताडिध्रयुगे।
त्रीक्षणविलसितवकृत्रे त्रिमुर्तिमूलात्मिके प्रसीद मन।।

-प्रपंचसार, 8/7 ।

त्रिपुर सुन्दरी की इस पंचदशाक्षरी विद्या का उद्धार शंकराचार्य ने सौन्दर्य सुन्दरी के 32 पद्य के द्वारा किया है-

शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथरविः शीतकिरणः
स्मरो हंसः शक्रस्तदनु च परामा रहमयः।
अमी हृल्लेकाभिस्तृसृभिरवसानेषु घटिताः
भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावययताम्।।

यह विद्या अत्यन्त रहस्यमयी मानी जाती है। सोम, सूर्य अनिलात्मक त्रिखण्ड- यह मातृकामन्त्र कहा जाता है। ये खण्ड अक्षर रूपों में इस प्रकार है-

प्रथम खण्ड - क, ए, ई, ल. ह्रीं
द्वितिय खण्ड- ह,ख,क,ह,ल,ह्रीं
तृतीया खण्ड- स,क,ल,ह्रीं
चौथा खण्ड - श्रीं।

इस श्लोक की व्याख्या में लक्ष्मीधर का कथन है कि प्रथम वर्णचतुष्टय आग्नेय खण्ड है, द्वितीय वर्णपंचक सौर खण्ड है। दोनों खण्डों के बीच में रूद्रगन्थ स्थानीय बीज है। तृतीय खण्ड का निरूपण वर्णत्रयी द्वारा किया गया है यह सौम्य खण्ड है। तथा सौर खण्डों की बीच में विष्णु ग्रन्थि स्थानीय भुवनेश्वर बीज स्थापित है। चौथा एकाक्षर चन्द्रकला खण्ड है। सौम्य खण्ड तथा चन्द्रकला खण्ड के मध्य में ब्रह्मग्रन्थि स्थानीय ह्रल्लेखा बीज है। श्रीं - यह षोडशी कला है। इसी बीज की श्रीविद्या कहते है। लक्ष्मीधर इसे गुरूपदेशादवगन्तव्यं कहा है। आद्य तीनों खंड ज्ञान, इच्छा और क्रिया, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, विश्व, तेजस प्राज्ञः, तम, रज और सत्व है। इन त्रिरूपों मे भी विभाग समझना चाहिए। यह अवरोह कम से जानना चाहिए। (द्रष्टव्य- सौन्दर्यलहरी व्याख्या, पृ. 81-82)

"त्रिपुरसुन्दरहिम्नस्तव" नाम से कोधभट्टारक देशिकेन्द्र दुर्वासा के द्वारा विरचित तान्त्रिक प्रमेय बहुला स्तुति तन्त्रशास्त्र में बहुत प्रसिद्ध है यही त्रिपुरामहिम्नस्तव तथा शक्ति महिम्नस्तव नाम से भी विख्यात है। श्रीविद्या के प्रवर्तक द्वादश शिष्यों में दुर्वासा अन्यतम है। इन शिष्यों के नाम इस प्रकार है-

मनुश्चन्द्रः कुवेरश्च लोपामुद्रा च मन्मथः।
अगस्तिरग्निः सूर्यश्च इन्द्रःस्तन्दः शिवस्तथा
कोधभट्टारको देव्या द्वादशामी उपासकाः।।

इनमें प्रत्येक का पृथक-पृथक समप्रदाय था। इनके चतुर्थ (लोपामुद्रा) एवं पञ्चम (मन्मथ-कामदेव) के ही दो सम्प्रदाय इस समय प्रचलित है। कामराजविद्या ककारजि पञ्चदशवर्णात्मक है। इसे ही कादि विद्या काकेश्वरांकित कामेश्वरी की

पूजा को कादि, हादि दोनों विद्याओं से युक्त नाम कथा की योजना सत् सम्प्रदायों में प्रचलित है। अन्य दस विदय्एँ केवल आम्नाय पाठ में ही उल्लिखित है। प्रचलित उपासना में इनका उपयोग नहीं है।

कामदेव के त्रिपुरा के प्रभावशाली शिष्य होने का उल्लेक शंकराचार्य ने सौन्दर्यलहरी में दो बार (श्लोक 1 तथा 5) दिया है। कामदेव अन्नड्ग है अंगों से विरहित है। अतः बाण मारने में नितान्त दुर्बल है। मानवों तथा देवों से युद्ध में उसके साधन नितान्त शक्तिहीन है, परन्तु भगवती के नयन कोणों की केवल एक झलक पाकर वह महामुनियों को भी- समस्त जगत् को अपने वश में लाने में सद्यः समर्थ होता है-

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी, पञ्च विशिखाः
वसन्तः सामन्तों, मलयमरूदायोधन रथः ।
तथाप्येकः सर्वे हिमगिरिसुते। कामपि कृपाम्
अपांगोतते लब्ध्वा जगदिदमनगों विजयते।।

(सौन्दर्यलहरी, पद्य-5)

फलतः कामदेव त्रिपरसुन्दरी का बड़ा ही भक्त तथा समर्थ उपासक है। इसलिए उसका तन्त्र सम्प्रदाय आदर की दृष्टि से देखा जाता है। लक्ष्मीधर ने इसीलिए कहा है- मन्मथस्य अनग्ड़ विद्यां मन्मथप्रस्तारस्य ऋषित्वात् तदयत्तमतिप्रागल्भ्म्।

देशिकेन्द्र दुर्वासा की रचनाचातुरी उनके दोनों स्तोत्रों में नितान्त आकर्षक तथा मोहक है। ये दोनों शक्ति महिम्नस्तव (54 पद्य एवं प्रकरणों में विभक्त 141 पद्य)
परशिवमहिम्नस्तव है। ये उनके तान्त्रिक रहस्योद्घाटन नैपुण्य के सदस्यः उद्घाटक तथा प्रकाशक है। दोनों में एक-एक पद्य यहाँ इस नैपुण्य के समर्थन में उद्धत किये जाते है-

त्रिपुरा स्तुतिः

श्रीमातस्त्रिपुरे परात्परतरे देवि त्रिलोकी महासौन्दर्यार्णव
मन्मथोद्भव - सुधां प्राचुर्यवर्णोज्जवलम्
उदयद्भानु सहत्र - नूतन जपा - पुष्पप्रभं ते वषुः
स्वान्ते में स्फुरतु त्रिकोकनिलयं ज्योतिर्मयं वाड़मयम्।।

— आंदिम पद्य

परशिव स्तुतिः

शब्दार्थाधारभूतं त्रिभुवनं जनकं सर्वतो दिक्सतत्वं
त्रैलोक्यस्थापि लिंगत्रयविदितपद सर्वतत्वैकवेद्यम्।
सर्वानिवच्छि-सत्तागत-परविभव ज्योतिरूग्जृम्भमाणं
व्यक्तीकृत्यात्म वर्णैः प्रकटयसि परं तत्वमात्मीयमप्रै ।।

—दशक प्रकरण, 15 पद्य

दुर्वासा का प्रथम स्तोत्र तो प्रसिद्ध है, परन्तु शिवपरक स्तोत्र उतना प्रसिद्ध नहीं है। इसका नाम परशम्भुमहिम्नस्तव है। इसके 13 प्रकरण है जिसके नाम क्रमशः इस प्रकार है- उपोद्घात प्रकरण (पद्य 18), पराशक्तिस्कन्धरश्मि (पद्य 7), इच्छाशक्तिस्कन्ध राश्मि (6), मातृका शक्तिस्कन्धरश्मि (10) षडन्वय रश्मिविवेक स्कन्ध (5) पावकध्यानयोग (11), महाविभूति(17), अन्तर्यागोपचार परामर्श (8), विशोषोपचार परामर्शे शान्ति प्रकरण (12), उपसंराह (21)। इन 13 प्रकरणों के श्लोकों की सम्मिलित संख्या 141 है। प्रकरणों के उपरिनिर्दिष्ट नामों से वण्यं विषयों का किंचित परिचय मिल जाता है। अन्त में दुर्वासा का नाम तथा स्तुति इस प्रकार है-

श्री कोधभट्टारक दिव्यनाम्ना दुर्वाससा सूक्त महामहिम्नः
स्तोत्रं पठैद्यो भुवनाधिपत्यं नित्यं गुरूत्वं शिवतामुपैति ।।6।।
सदसदनुग्रह विग्रह गृहीत मुनिविग्रहो भगवान्
सर्वासामुपनिषदां दुर्वासा जयति देशिकः प्रथमः ।।8।।

दुर्वासा की आदिविद्या त्रयोदशाक्षरी बतलाई जाती है। इनका सम्प्रदाय सर्वाशतः लुप्तप्राय है, परन्तु लोपमुद्रा सम्प्रदाय की दशा इससे भिन्न है। यह कियदंश में आज भी प्रचलित है। लोपामुद्रा भी हादिविद्या है, परन्तु वह पंचदशाक्षरी 15 वर्णों की बतलाई जाती है। त्रिपुरोपनिषद् निश्चयेन कादिविद्या के ही ग्रन्थ है। सम्भवतः कौलोपनिषद् भी इसी विद्या से सम्बद्ध है। त्रिपुरोपनिषद् के टिकाकार भास्कराय के उपाद्घात पद्य के अनुसार यह ग्रन्थ शाखायन आरण्यक के अन्तर्गत है। हादिविद्या का प्रतिपादन त्रिपुरतापिनी उपनिषद् में है।

लोपामुद्रा का सम्प्रदाय हादिविद्या का उपासक है। लोपामुद्रा राज्यकन्या थी। इनके पिता महाराजा थे और त्रिपुरसुन्दरी के बड़े भक्त थे। लोपामुद्रा ने बालकपन में इनकी बड़ी सेवा की और प्रसन्न पिता के प्रसाद से ये भगवती की कृपापात्र बन गयी। इनका विवाह ऋषि अगस्त्य से हुआ था। वे वैदिक ऋषि थे,परन्तु वे पहले तान्त्रिक नही थे। इसलिए भगवती के ध्यान में पदार्पण करने का भी उन्हे अधिका प्राप्त नही हुआ था। परन्तु उन्होने अपनी पत्नी से दीक्षा ली। तब भगवती की उपासना के अधिकारी बने। उनका भी सम्प्रदाय है जो उपलब्ध नही होता है।

दश महाविद्याओं के नाम ये है- (1) काली, (2) तारा (3) षोडशी(श्रीविद्या) (4) भुवनेश्वरी, (5) भैरवी, (6) छिन्न मस्ता, (7) घूमावती, (8) बगला, (8 मातन्गी तथा (10) कमला। इनमें षोडशी का माहात्म्य सर्वाधिक है। श्रीविद्या तान्त्रिक दृष्टि से अभ्यर्हित है तथा वैदिक दृष्टि से भी वह माननीयतम है। श्रीविद्या शक्तिचक्र की सामग्री है तथा बह्मविद्या स्वरूप आत्मशक्ति है। यह उक्ति इनके भक्तों के लिए नितान्त विश्रुत है-

यत्रस्ति भोगो न च तत्रमोक्षो
यत्रास्ति मोक्षो न चे तत्र भोगः
श्री सुन्दरी सेवन तत्पराणां
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एवं।

इस पद्य के दृष्टान्त के रूप में दुर्गासप्तशती में वर्णित दो साधकों का चरित्र प्रस्तुत किया जा सकता है। एक तो था चैत्रवंश में उत्पन्न सुरथ नामक राजा और दूसरा था धनिकों के कुल में उत्पन्न समाधि नामक वैश्य। दोनों में भगवती दुर्गा का आराधना तीन वर्षों तक की थी। प्रसन्न होकर भगवती ने दोनों से वर मांगने की प्रार्थना की, जिस पर राजा ने तो अभ्रंशशील राज्य का वर माँगा तथा वैश्य ने मम(मेरा) तथा अहम्(मैं) इस आशक्ति ज्ञान की विच्युति करने वाले ज्ञान को पाने की प्रार्थना की-

हतो बब्रे नृपो राज्यामविभ्रंश्यन्य जन्मनि।
अत्रैव च निजं राज्यं हतशत्रुबलं बलात् ।।
सोअपि वैश्यस्ततो ज्ञानं वबे निर्विण्णमानसः
ममेत्यहमिति प्राज्ञः सङ्गविच्युतिकारकम्।।
-सप्तशती,13 उ. 19 तथा 18 श्लोक

अन्तिम पंक्ति की व्याख्या इस प्रकार की गई है-

ममता च अहन्ता च संगः संसर्गेअपेक्षा बुद्धिः द्वैतज्ञानं भेद निबन्धनं, तस्य विच्युति कारके विच्छेदजनकं मोक्षोफ्योगिज्ञानम् ।

ममायं पुत्रोअहं पितामेद कुलं अहं भर्ता। ममेदं घनमहं स्वामी तस्येति अध्यासजनितः संगः तस्य विच्युति विलयः तस्याः कारकं करणम्।- शान्तनवी टीका

फलतः भगवती की उपासना से राजा को भोग की तथा वैश्य को मोक्ष की प्राप्ति हुई थी। यही हुआ भोग तथा मोक्ष दोनों का करस्थित होना। अर्थात साधकों की भाववैषम्य से दोनों व्यक्तियों को एक साथ ही दोनों की प्राप्ति का फल मिलता है।

अन्त में आचार्य शंकर भगवती से प्रार्थना करते है कि तुम्हारी दृष्टि के पात्रमात्र से भक्त एक विचित्र पुण्यमय संगम में स्नान कर अपने को कृतकृत्य

करता है। पराम्बा के नेत्रों को देखिये। नेत्र की लालिमा शोणनंद (शोणभद्र) है, श्वेत रंग गंगा है तथा कालापन यमुना है। सोन, गंगा तथा यमुना का यह पवित्र संगम भूतल पर तो नही होता। अतएव इन पवित्र तीर्थों के संगम पर नहाने का अवसर प्राप्त ही नही होता। परन्तु आपकी कृपादृष्टि जिस भक्त के ऊपर पड़ती है, उसे इस अभूतपूर्व संगम में दिव्य स्नान का अवसर मिल जाता है और वह इस भवजाल में मुक्त होकर सफल मनोरथ हो जाता है-

पवितीकर्तु नः पशुपतिपराधीनहृदये
दयामित्रैनेत्रैः अरूण-धवल-श्याम- रुचिभिः।
नदः शोणो गंगा तपनतनयेति ध्रुवममु
वयाणां तीर्थानामुपनयसि संभेदमनघम्।।

सौन्दर्यलहरी, 54 पद्य

सन्दर्भः

1. श्रुति वाक्य तथा उनके अर्थ के लिए द्रष्टव्य सौन्दर्यलहरी की लक्ष्मीधर व्याख्या पृ. 35-43 ।
   अरूणाख्या भगवती के विषय में वामेश्वरतन्त्र का वचन देखिए (वही, पृ.53) ।
2. सरस्वती भवन संस्कृत ग्रथमाला (वाराणसी) में प्रकाशित।
3. द्रष्टव्य डा. शिवशंकर अवस्थीः मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य, पृ.241 (प्र. चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1966 ई.)
4. वही, पृ. 249।
5. द्रष्टव्य - डा. शिवशंकर अवस्थीः मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य, पृ. 211 240. चौखम्बा प्रकाशन, काशी सन् 1966।

रविन्द्रपुरी वाराणसी.

कश्मीर शैवदर्शन का "त्रिक' सिद्धान्त

महामहोपाध्याय, पण्डितराज,
डॉ0 गजानन शास्त्री 'मुसलगांवकर'

'त्रिक' का अर्थ है "तीन" का समुदाय। 'त्रिक-साधना' में तीन-तीन पदार्थों के समुदाय रहते हैं। इस 'त्रिक समुदाय' के आधार तीन आगम है। ये हैं मालिनी तन्त्र, सिद्ध तन्त्र, वामक तन्त्र। सम्पूर्ण 'विश्व को शिव' 'शक्ति' और 'नर' इन तीनों के रूप में देखा जाता है। 'शिव' ही 'शक्ति' के मार्ग से उतर कर 'नर' (जीव) के रूप में अभिव्यक्त होता रहता है और नर (जीव) भी 'शक्ति' के मार्ग से ही आरोहण करता हुआ 'शिवत्व' को पाता है। इस साधना के तीन उपाया हैं- 'शांभव, शाक्त और आणव'। जब नर को अपनी अनिरूद्ध तीन शक्तियों का अनुभव हो जाता है, तब उसे अपनी प्रत्याभिज्ञा (पहिचान) होती है।

अनुभूयसान शक्तियाँ-इच्छा, शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति हैं। 'पर तत्त्व' श्री त्रिक रूप है। अर्थात् 'शिव रूप में, शक्ति रूप में और दोनों के 'समरस रूप' में ही उन शक्तियों का साक्षात्कार होता है स्वयं अपना साक्षात्कार (दर्शन) की 'वीश्वोत्तीर्ण भाव' में (विश्वमय भाव) में और 'समरभाव' में होता है।

'मातृका उपासना' में मूल स्वर तीन ही हैं- 'अ, ई और उ'। इस प्रकार के तीन-तीन, पदार्थों के आधार पर उस साधना का नामकरण 'त्रिक' किया गया है।

वस्तुतः 'यह त्रिक', काश्मीर शैव दर्शन के 'साधना पक्ष' का नाम है। परन्तु प्रायः 'सम्पूर्ण इस दर्शन विद्या'को ही विद्वान लोग 'त्रिक दर्शन' कहते हैं। श्री माधवाचार्य ने भी इसको 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन के नाम से कहा है। आज के युग में इस त्र्यम्बक शास्त्र को 'काश्मीर दर्शन' के नाम से लोग जानते हैं। महान् पण्डित 'अभिनव गुप्तपाद' ने इसे 'पराद्वैत दर्शन' कहा है। महापण्डितक्षेमराज ने भी इसे 'ईश्वरराऽद्वैत' अथवा 'शैवाऽद्वैत दर्शन' कहा है।

कतिपय विद्वानों ने 'आगमशास्त्र' को काश्मीर शैवदर्शन की एक शाखा के रूप में घोषित कर दिया है। वस्तुतः 'आगमशास्त्र' शैव दर्शन के उन स्त्रोतों केा कहते हैं- जिनके आधार पर 'उत्तर' और दक्षिण भारत' में प्रचलित शैव दर्शन की भिन्न-भिन्न शाखाओं का निर्माण, प्रचार, प्रसार हुआ है। अतः 'आगमशास्त्र' को 'स्पन्दशास्त्र'अथवा प्रत्यभिज्ञाशास्त्र से वैसे ही विभक्त नहीं किया जाता जा सकता है, जिस तरह से अद्वैत वेदान्त विशिष्टा$द्वैत आदि को उपनिषद् वेदान्त से पृथक् नहीं किया जा सकता। 'आगम' तो शैव दर्शन के स्त्रोत हैं, पृथक् सम्प्रदाय नहीं है। शैवागम-प्रधानतया दश भेद प्रधान, अठारह, भेदाऽभेद प्रधान और चौसठ, अभेद प्रधान है। वे अनेक बातों में मिलते-जुलते हैं। सभी शैव दर्शन, प्रायः सभी आगमों का आधार ग्रहण करते हैं, तथापि शैव दर्शन के मुख्य स्त्रोत चैसठ, अभेद प्रधान आगम हैं।

फिर इन 10 + 18 + 64 आगमों में से विशेष प्रधानता (यहाँ पर चौसठ अभेद प्रधान आगमों को ही लिया जाता है), इन चौसठ आगमों से भी अत्यधिक महत्त्व, 'छह आगमों' को दिया जाता है। वे इस प्रकार हैं- सौर, मार्ग शिखा आदि उनके भी दो वर्ग हैं- 'पूर्व और उत्तर'। एक-एक में तीन-तीन आगम गिने जाते हैं।

काश्मीर शैव दर्शन के मुख्य आधार ऊपर वर्ग के 'तीन आगम हैं। तथाहि-सिद्धा तन्त्र, वामक तंत्र और मालिनी तन्त्र। ये तीन आगम-त्रिक आगम अथवा षडर्ध (छह का आधा) आगम हैं। इनमें से सिद्धातन्त्र के अन्त उद्धरण, मात्र 'तन्त्रालोक' की व्याख्या में दिये गये हैं। 'वामक तंत्र' में सिद्धान्त, वामकेश्वरी मत के विवरण में संगृहीत किये गये हैं। 'मालिनी तंत्र' के पूर्व भाग पर आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा विरचित 'मालिनी विजयवार्तिक' (जो जब प्रकाशित हो चुका है) और उस ग्रन्थ का उत्तर भाग, बिना किसी व्याख्या के छप चुका है। उपर्युक्त-28 आगमों को भी 'तन्त्रालोक' में प्रमाण के रूप में उल्लिखित किया गया है। किन्तु विशेषतः उपर्युक्त 'त्रिक' में आगमों का ही

आधार लिया गया है। वर्तमान युग के शैव लोग (रिसर्च करने वाले) 'स्पन्दशास्त्र' को 'काश्मीर शैव दर्शन' की 'दूसरी शाखा' मानते हैं। किन्तु यह धारणा यथार्थ नहीं है। 'स्पन्द' तो मूलतः परमेश्वर की जो आनन्दमयता (आनन्दरूपता) है, उसकी विचित्र आध्यात्मिक गतिशीलता को ही बताया गया है। जिसके प्रभाव से परमेश्वर, सृष्टि-संहार आदि पारमेश्वरी लीला के विलास में सर्वदा बहिर्मुखतया 'तरंगित' होता ही रहता है। यह स्पन्द लीला ही, उसकी 'परमेश्वरता' का आधार है। जीव और जगत् भी उसकी स्पन्द शक्ति के प्रभाव से ही गतिशील बने रहते है। एक-एक परमाणु में भी उसके इलेक्ट्रान, विद्युत अणु और प्रोटान जीवद्रव्य सदैव गतिशील बने रहते हैं। प्रत्येक जीव इस स्पन्द की गतिशीलता से सदैव इच्छा, ज्ञान और क्रिया में प्रवृत्त होकर चलता ही रहता है। आचार्य 'वसुगुप्त' ने शैव योग की एक अनोखी प्रक्रिया को कहा है, जिसे 'स्पन्द तत्त्व विविक्ति' कहते हैं। उसके अनुसार शैवी त्रिक योग के अभ्यास से 'साधक' अपने स्वरूपभूत चैतन्य की उस आनन्दमयी तरंगायमाण स्थिति का अनुभव करता हुआ और अपने छिपे हुए वास्तविक स्वरूप और स्वभाव का पुनः साक्षात्कार करता हुआ अपने आपको परिपूर्ण परमेश्वर के रूप में पहचान कर कृतकृत्य हो जाता है। पीछे भुला डाले हुए अपने वास्तविक स्वरूप की इस अभिनवतया पहचान होने की प्रक्रिया को 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। इस प्रत्यभिज्ञा की ही महिमा से साधक जीवन्मुक्त होकर सदा-सर्वदा के लिये कृत-कृत्य हो जाया करता है। यह स्वरूप-प्रत्यभिज्ञा की साधक का मुख्य प्रयोजन को प्राप्त करने का प्रधान उपाय, अपने परमेश्वरोचित-परापर-स्पन्दात्मक स्वभाव (स्वरूप) का साक्षात्कार है। अतः स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा, पृथक् सम्प्रदायों के रूप नहीं हैं। अएतव 'तन्त्रालोक' में स्थान-स्थान पर 'स्पन्दकारिका' की ओर संकेत प्राप्त होते हैं। ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृत्ति विमर्शिनी में भी अनेक स्थानों पर 'स्पन्दकारिका' के कारिकाओं को उद्वत किया गया है। काश्मीर शैव दर्शन के किसी भाग को प्रत्यभिज्ञा विषयक, किसी भाग को स्पन्द

विषयक और किसी भाग को आगम विषयक कह सकते हैं, 'शास्त्र भेद' नहीं कह सकते है। शास्त्र भेद तो मुख्यतया 'चार' की है (1) त्र्यंबक शाखा, जो त्रिकाचार प्रधान है। (2) अर्ध त्र्यम्बक शाखा, जो मुख्यतया 'कौलाचार-प्रधान है। (3) श्री नाथ शाखा, जो भेदाऽभेद दृष्टि प्रधान है और (4) आमर्दक शाखा, जो भेद दृष्टि प्रधान है। ये चार शाखाएँ साधकों के अधिकारभेद की दृष्टि से प्रवृत्त हुई है। सभी साधक एक जैसे अधिकार के नहीं होते। अतएव- "चित्तभेदात् मनुष्याणां शास्त्र भेदो वराननें!" ऐसा आगम वाक्य है। काश्मीर शैवदर्शन के आचार्यों ने स्वात्मप्रत्यभिज्ञा को प्राप्त करने के उपायों के भीतर अनेक साधनाओं को स्थान दिया है। जनसाधारण के लिये चातुर्वर्णिक और चतुरा श्रमिक् वैदिक आधार को उपयुक्त माना है। इसी आदर्श की शिक्षा देने के लिये आचार्य-अभिनव गुप्तपाद ने आजीवन यज्ञोयवीत धारण किया। अभी तक यही परम्परा काश्मीर में चलती रही। शैव दर्शन में भगवद् भक्तों के लिये शैव सिद्धान्त के चर्या-क्रिया और योग नामक तीन सोपानों वाले भक्ति प्रधान शैवाचार को 'हितकर' बताया है। त्वरित गति से स्व-स्वभावभूत चिदानन्द के परस्पन्द का साक्षात्कार करने वाले-जितेन्द्रिय अधिकारियों के लिए उन्होंने 'पंचमकार प्रधान' (मद्य, माँस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन) वामाचार को हितकर माना है। इस आचार से जनसाधारण पर पड़ने वाले कुप्रभाव को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने वामाचार से उत्कृष्ट कौलाचार की पर्याप्त प्रशंसा की है। इस आचार के अभ्यास में भी 'पंचमकारों' का उपयोग किया जाता है, परन्तु निरंकुशता और निर्लज्जतापूर्वक नहीं। किन्तु साधारण जनता से अदृश्य कुल चक्रों में रहस्यात्मकतया की जाने वाली पंच मकार साधना से सद्यः परस्पन्दात्मकता को चमकाते हुए स्वरूप प्रत्यभिज्ञा को प्राप्त करने के अभ्यास से ही इसकी प्रक्रिया का अनुष्ठान किया जाता है। कुल प्राप्त करने के अभ्यास से ही इसकी प्रक्रिया का अनुष्ठान किया जाता है। कुल गुरु की प्रभावशीलता से कुल चक्र में प्रविष्ट हुआ प्रत्येक साधक इस अभ्यास से सद्यः स्वात्म स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा को प्राप्त करता हुआ एक ओर से

जीवन्मुक्त हो जाता है और दूसरी ओर से योग सिद्धियों से सम्पन्न हो जाता है। अतएव यह भट्ट, कल्लट उत्पल देव, अभिनव गुप्त, जैसे गुरु, कौल साधना में पर्याप्त अभिरूचि लेते रहे।

'कौल मार्ग' से भी उत्कृष्ट 'त्रिक मार्ग' को माना गया है। इस मार्ग में पंचमकारों का सेवन अनिवार्य नहीं है। विशेषकर शास्त्र सिद्धान्तों का यथार्थ ज्ञान त्रिक साधना वाला योगाभ्यास और परमेश्वर के प्रति अनन्य भक्ति- इन तीन उपायों के एक साथ अभ्यास से अपनी चिदानन्दात्मिकता परस्परन्दरूपता के साक्षात्कार के द्वारा साधक को अपने परमेश्वर स्वरूप की तथा वैसे स्वभाव की पुनः प्रत्यभिज्ञा हो जाती है और साधक, जीवन्मुक्ति को पा जाता है। इस आधार में न तो भयात्मक मकारों का अवश्यमेव सेवन ही करना होता है और न प्राणायाम, प्रत्याहार आदि कष्टमयी साधनाओं का अभ्यास करना होता है। इसमें तान्त्रिक योग आदि की विशेष आवश्यकता भी नहीं पड़ती। सर्वथा आडम्बरहीन होने से उक्त साधना मार्ग को सर्वोच्च माना गया है। तान्त्रालोक आदि ग्रंथो से उक्त त्रिकाचार की अनेक निम्न तथा उच्चस्तरों की साधना के अभ्यास का निरूपण अति विस्तार से किया गया है। यह 'त्रिक आचार' प्रयोगात्मक उपाय है। उसे मोक्षोपायों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यह त्रिक शास्त्र, काश्मीर-शैव दर्शन का प्रयोगात्मक पक्ष है और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र, इसका सिद्धान्तात्मक पक्ष है। इन दोनों को परस्पर पृथक् नहीं किया जा सकता है। कतिपय विद्वानों के काश्मीर शैव दर्शन को त्रिक दर्शन के नाम से ही कहा है। इसका प्राचीन नाम 'त्र्यम्बक दर्शन' है।

काश्मीर शैव दर्शन में कौलाचार और त्रिकाचार के मध्य में एक 'मताचार' नाम की 'साधना' का उल्लेख है। आजकल उस मताचार के विषय में कुछ भी पता नहीं लगता कि वह कैसा था और कहाँ प्रचलित था। केवल इतनी बात विदित हो रही है कि 'आचार', कौलाचार से कुछ मिलता-जुलता था। 'चैसठ भैरव आगमों' में 'आठ आगम', मताष्टक नाम से प्रसिद्ध हैं। संभव है कि उन

आठ आगमों में उसका निरूपण किया गया हो। वे आगम तो अब केवल नामपात्र से ही अवशिष्ट रह गये हैं। यह कोई पृथक् आचार नहीं था, अपितु समस्त ब्रह्माण्ड को बारह भागों में विभक्त करते हुए एक-एक भाग को अपनी कल्पनात्मिका शक्ति से अपने 'चित् स्वरूप' में विलीन करते हुए समस्त विश्व को ही उसमें विलीन करने के अभ्यास का यह एक अपेक्षाकृत सरल उपाय होता हुआ शाक्तोपाय का अभ्यास करने वाले शैवों में विशेषतया लोकप्रिय बन चुका था। तभी इसका नामोल्लेख 'त्रिक'और 'कुल' के साथ किया जाता रहा, परन्तु 'तन्त्रालोक' में इसे 'प्रमुख-शाक्तोपाय' ही स्वीकार किया गया है। इस प्रकार से इन क्रम, कुल, प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द आदि परिभाषाओं की उलझनों में पड़ने से बचने के लिए इनके उन-उन मूलभूत स्वरूपों को ध्यान में रखना चाहिये। उनका निरूण प्राचीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में किया है। उसे पढ़ने से काश्मीर शैव दर्शन का वास्तविक स्वरूप, साक्षात् अनुभव करने से, स्पष्टतया अभिव्यक्त हो सकेगा।

काश्मीर शैव दर्शन उक्त त्रिक आधार के अनुसार यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार प्रभृति किसी भी कष्टप्रद अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती। साधक को 'मन' का अथवा मानसिक-वृत्तियों का दमन करने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। दमन करने से विपरीत फल हो सकता है। आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि 'मन' को बलात्कार से दबाए रखने पर वह अधिक-अधिक उल्टे-उल्टे मार्गों की ओर दौड़ने लगता है। जैसे एक नौजवान घोड़े को धीरे-धीरे प्रेम पूर्वक सिखाया जा सकता है, वैसे ही 'मन'को भी धीरे-धीरे ही सीधे मार्ग पर चलाया जा सकता है। इन्द्रियों का शोषण भी प्रायः हानिकारक ही होता है। शोषित इन्द्रियों में अपने-अपने विषयों के प्रति तृष्णा अधिक बढ़ सकती है। इसीलिए 'त्रिकाचार' के अभ्यासी घर छोड़कर 'साधु-बाबाजी' नहीं बनते।

गृहस्थ आश्रम में रहते हुए ही और तद्नुसार विषयों का सेवन करते हुए ही साथ-साथ 'त्रिकाचार' की किसी साधना का अभ्यास किया करते थे।

उससे ज्यों ही आत्मानन्द की किसी भूमिका का आस्वाद आने लगता था, त्यों ही उसके रस के सामने 'विषय रस' स्वयं फीका पड़ जाता था। तभी तो आचार्य उत्पल देव, भट्ट कल्लट, भूतिराज, नर सिंह गुप्त, प्रभृति शैव-गुरु सभी गृहस्थाश्रम में रहते थे। आचार्य अभिनवगुप्त ने यद्यपि विवाह नहीं किया था, फिर भी वे अपने भाई-बन्धुओं के साथ अपने घर में ही रहते थे, 'परिव्राजक' (संन्यासी) नहीं बनें। इन शैव गुरूओं में से संभवतः कोई भी 'परिव्राजक' नही बना। शास्त्र ज्ञान और योगभ्यास से ही दो साधन हैं, जिनका आश्रय 'त्रिक साधक' को लेना होता है। इस उपासना क्रम में 'भक्ति' को विशेष प्राधान्य दिया गया है। उसी के बल से शास्त्र ज्ञान भी पच जाता है और योगाभ्यास भी दुरुपयोग से बचा रहता है। आचार्य उत्पल देव ने तो 'भक्ति' की महिमा बहुत गाई है।

द्वारा-श्री अनिल किंजवडेकर,
इंजिनियर
कमच्छा गुरुद्वारे के सामने
कमलावति कटरा, वाराणसी

युक्तिदीपिका के अनुसार तन्त्रयुक्तियों का विवेचन

प्रो0 कृपाशंकर

ईश्वर कृष्ण विरचित सांख्यकारिका (सांख्य–संप्तति) सांख्य दर्शन के उपलब्ध मूलग्रन्थों में सर्वाधिक महत्व का लघुकाय ग्रन्थ है, जिसे स्वयं ग्रन्थकार ने महर्षि कपिल द्वारा प्रणीत षष्टितन्त्र का संक्षेप बताया है। सांख्यकारिका पर सम्प्रति माठरवृत्ति, जयमंगला, गौडपादभाष्य, सांख्यातत्वकौमुदी, युक्तिदीपिका एवं साख्यचन्द्रिका टीकाएँ उपलब्ध होती हैं जिनमें साख्यसिद्धान्तों को तथान्याय प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इन सभी टीकाओं में युक्तिदीषिका सबसे महत्वपूर्ण टीका मानी जाती है, क्योंकि यह वार्तिक कोटि का ग्रन्थ है और इसमें सांख्य के प्राचीन अचार्यों के मतों का उल्लेख विरोधी मतों का युक्तिपूर्वक खण्डन एवं सांख्यकारिकाओं की 'सूत्रों' के रूप में व्याख्या की गई है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि सांख्यकारिका की केवल इसी टीका में तन्त्रयुक्तियों का विवेचन मिलता है। उपोद्घात में ही यह दिखःने का प्रयास किया गया है कि साख्यकारिका किसी भी शास्त्र के सभी गुणों से युक्त है और इसी सन्दर्भ में शास्त्र के ग्यारह गुण बताकर उनकी उपपत्ति संख्या– कारिका में दिखाई गई है।

सूत्र प्रमाणावयवोपपत्तिरन्यूनता संशयनिर्णयोक्तिः।
उद्देशनिर्देशमनुक्रमशश्च, संज्ञोपदेशाविहतन्त्रसम्पत्।।

सूत्र, प्रमाण और अवयवों की उपपत्ति, अन्यूनता, संशय और निर्णय का कथन, उद्देश, निर्देश अनुक्रम, संज्ञा और उपदेश–शा त्र के गण है। इसके अतिरिक्त उत्सर्ग, अपवाद और अतिदेश को भी बताकर कहा गया है कि ''इसी प्रकार अन्य तन्त्रयुक्तियों को भी यहाँ दिखाया जा सकता है विस्तारभय से उनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है।'' यह उपसंहारात्मक कथन स्पष्टतया संकेत करता है कि तन्त्र के गुण ही 'तन्त्रयुक्ति ' के नाम से जाने जाते हैं और युक्तिदीपिका में वर्णित उपरोक्त 14 तन्त्रयुक्तियों के के अतिरिक्त अन्य तन्त्रयुक्तियों से भी लेखन परिचित था तन्त्रयुक्तियों के प्रयोजन एवं महत्व का उल्लेख न किया जाना भी इसी बात को सिद्ध करता है कि लेखक के समय में इनका महत्व एवं आवश्यकता सवंज्ञात थी। किसी भी शास्त्र की रचना के लिए इनको एक आदर्श मानदण्ड या उपाय के रूप में स्वीकार किया जाता था और ये तन्त्रयुक्तियाँ शास्त्र रचना में सहायक होने के साथ ही शास्त्र को समझने में व्यक्ति की सहायता करती है। आज भी इन युक्तियों का महत्व शोध पद्धति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जिनका उचित प्रयोग करके आदर्श शोध प्रबन्ध लिखे जा सकते हैं।

'तन्त्रयुक्ति' पद तन्त्र' और युक्ति इन दो शब्दों से मिलकार बना है जिसका अर्थ 'तन्त्र की युक्ति से है। तन्त्र शास्त्र' को कहते हैं और 'युक्ति' उपायवाची शब्द है। अतः तन्त्रयुक्ति' वह उपाय है जिसके माध्यम

से किसी वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक प्रबन्ध की रचना की जाती है और उसके अर्थ को समझा जा सकता है। इस प्रकार 'तन्त्रयुक्ति' एक तकनीकी पद है जो शास्त्र रचना की एक विधा का द्योतक है। महाभाष्य[1] में 'तन्त्र' पद को विस्तार करने वाले के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है जो किसी भी विषय से सम्बन्धित विचारों एवं सिद्धांतों को प्रकाशित करता है, उनका नियोजन करता है। तन्त्र की पारम्परिक परिभाषा भी तन्त्र के इसी स्वरूप को स्पष्ट करती है। चरकसंहिता में तन्त्र के कई समानार्थक पदों का संकेत मिलता है जैसे–आयुर्वेद, शाखा, विद्या, सूत्र, ज्ञान शास्त्र आदि।[3] भारतीय वांगमय में तन्त्र' शब्द वैज्ञानिक रीति से लिखे गए किसी भी शास्त्र के लिए प्रयुक्त हुआ है।

युक्ति पद का अर्थ, जोड़ना, प्रयोग, नियोजन, उपाय, प्रणाली, तकनीक और तकंणा आदि है किन्तु प्रकृत में इसका अर्थ उपाय अथवा तकनीक ही अपेक्षित है। तदनुसार 'तन्त्रयक्ति' शब्द का अर्थ तन्त्र की रचना हेतु और उसके अर्थ को सम्यक् रूप से समझने के लिए प्रयुक्त होने वाले उपायों या तकनीक से है। आचार्य शंकर शर्मा के अनुसार जिसके द्वारा शास्त्राभिमत अर्थ को विरोध, व्याघात आदि दोषों से रहित करके परस्पर सम्यक रूप से सम्बंध किया जाता है वह युक्ति है, क्योंकि युक्ति' शब्द उपायबोधक है। तन्त्र की युक्तियों को 'तन्त्रयुक्ति कहते हैं। इन युक्तियों को जाने बिना तन्त्र की रचना नहीं की जा सकती है।[4]

तन्त्रयुक्तियों के 'प्रयोजन' का निरूपण करते हुए 'चरक–संहिता' में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश कमल वन को विकसित कर देता है और दीपक गृह में व्याप्त अन्धकार को दूर करके वस्तुओं को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार तन्त्र की युक्तियाँ भी शास्त्र के अर्थ की प्रकाशिका होती हैं। केवल एक ही शास्त्र को जानने वाला व्यक्ति यदि तन्त्रयुक्तियों का ज्ञान प्राप्त कर ले तो वह अन्य शास्त्रों को बहुत आसानी से समझ सकता है। बिना तन्त्रयुक्तियों के ज्ञान के शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी वैद्य शास्त्र के अर्थ को नहीं समझ पाता। इसी प्रकार 'सुश्रुत–संहिता'[6] में तन्त्रयुक्तियों के दो प्रयोजन बताये गए हैं–वाक्य–योजना और अर्थ योजन। असम्बद्ध वाक्यों को सम्बन्धित करना वाक्योजन है और संकुचित अस्पष्ट एवं असंगत अर्थ को सुसंगत रूप से प्रकाशित करना अर्थयोजन है। इन तन्त्रयुक्तियों द्वारा प्रतिपक्षी के कथन का खण्डन और अपने कथन की सिद्धि भी की जाती है। वाग्मट्ट और नीलमेघ ने भी स्वीकार किया है कि शास्त्र की रचना एवं उसके अर्थ की सुसंगत बनाने में तन्त्र–युक्तियों का अत्यधिक महत्व है।

तन्त्रयुक्तियो की संख्या के विषय में आचार्यों में मतभेद है। सर्वप्रथम पाणिनि की अष्टाध्यायी में हमें तन्त्रयुक्तियों का उल्लेख मिलता है जिनमें हेत्वर्थ उपदेश, अतीतांवेक्षण, अनागतान्वेक्षणतशय् वाक्याध्याहार, अनुभव, अतिशयवर्णन, निर्वचन, स्वसंज्ञा, पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष, अतिदेश और

विकल्प–इन पन्द्रह तन्त्रयुक्तियों का स्पष्ट उल्लेख है।[9] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 32 तन्त्रयुक्तियाँ गिनाई गई हैं–अधिकरण, विधान योग पदार्थ हेत्कार्थ, उद्देश्य, निर्देश, उपदेश, अपदेश, अतिदेश, प्रदेश, उपमान, अर्थापत्ति, संशय, प्रसंग, विपयर्य, वाक्यशेष, अनुमत, व्याख्यान, निर्वचन, निदर्शन, अपवर्ग, स्वसंज्ञा, पूव –पक्ष, उत्तरपक्ष, एकान्त, अनागतावेक्षण, अतिक्रान्ता वेक्षण, नियोग, विकल्प समुच्चय और ऊहय। सुश्रुत–संहिता [10] और विष्णुधर्मोत्तर–पुराण[11] में भी इन्हीं 32 तन्त्रयुक्तियों को माना गया है किन्तु चरकसंहिता[12] में इनके अतिरिक्त–नैकान्त प्रत्यत्सार, उद्धार और संभव इन चार तन्त्रयुक्तियों के साथ कुल 36 तन्त्रयुक्तियों को स्वीकार किया गया। वाग्भट्ट और नीलमेध ने भी इसी परम्परा का निर्वाह किया। इनके क्रम और नामकरण में कुछ अन्तर अवश्य दिखाई देता है।

(2)

युक्तिदीपिका में वर्णित 14 तन्त्रयुक्तियों में से सूत्र, प्रमाण, अवयम, अन्यूनता, अनुक्रम एवं उत्सर्ग सर्वथा नवीन प्रतीत होती हैं, क्योंकि परम्परागत 36 तन्त्रयुक्तियों में इनके अनुरूप कोई तन्त्रयुक्ति नहीं हैं। अब हम क्रमशः सभी 14 तन्त्रयुक्तियों का विवेचन युक्तिदीपिका के अनुसार करेंगे–

1. सूत्र– यद्यपि सांख्यकारिका आर्या छन्द में रचित 7 आर्याओं का एक लघुकाय ग्रन्थ है, किन्तु युक्तिदीपिका में इन श्लोकों को सुत्र–रूप

में रखकर इनकी व्याख्या की गई है। जैसे–प्रथम कारिका को चार सूत्रों में विभक्त किया गया है– (1) दुःखत्रयाभिवाताज्जिज्ञासा (2) तदपघातके हेतौ, (3) दृष्टे साऽपार्था चेत् (4) नैकान्ताऽत्यन्ततोऽभावात्। इसी प्रकार सम्पूर्ण सांख्यकारिका को सूत्र रूप में व्याख्यायित किया गया है। सूत्र का लक्षण बताते हुए युक्तदीपिका में कहा गया है कि–कम से कम शब्दों वाले, असन्दिग्ध, सार्थक, सार्वजनीन, अपुनरूक्त एवं दोषरहित वाक्य को सूत्र कहा जाता है।'' पुनश्च ''छोटे–छोटे विषयों को सूचित करने वाले, कम से कम अक्षर एवं पदों वाले तथा सभी प्रकार से सारगर्भित वाक्यों को विद्वद्गण सूत्र कहते हैं।[14]

2. प्रमारग– यथार्थ ज्ञान के साधन को प्रमाण कहा जाता है। सांख्य कारिका में प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द–तीन प्रमाण माने गए हैं (का० 4) और इनके लक्षण एवं प्रकारादि का भी सम्यग्विवेचन किया गया है (का० 516)। आचार्य ईश्वरकृष्ण के अनुसार चूंकि प्रमेयों (पदार्थों) की सिद्धि प्रमाणों के द्वारा ही होती है (प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धि) इसलिए शास्त्र में इनका विवेचन आवश्यक है, क्योंकि इनके द्वारा ही पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है।

3. अवयव– दार्शनिक विवेचना में 'अवयव' का तात्पर्य परार्थानुमान को व्यक्त करने वाले प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त आदि वाक्यों से है। भारतीय दर्शन में न्याय की पञ्चाययवी परम्परा का ही अधिक प्रचलन है, किन्तु

कुछ लोग केवल दो, कुछ लोग केवल तीन और कुछ लोग केवल चार अवयवों को ही आवश्यक मानते हैं युक्तिदीपिका में 10 अवयवों को स्वीकार किया गया है जिनमें जिज्ञासा, संशय, प्रयोजन, शक्यप्राप्ति और संशय व्युदास–इन पाँच अवयवों को व्याख्यागं और प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार (उपनय) और निगमन को परप्रतिपददनांक कहा गया है।

इन पर यह आक्षेप किया गया कि अवयवों का उल्लेख तो सांख्यकारिका में नहीं है अतएव इनका कथन नहीं करना चाहिए और यदि इसके उत्तर में यह कहें कि यद्यपि सूत्रकार (ईश्वरकृष्ण) ने इनका विवेचन नहीं किया है किन्तु भाष्यकारों ने इनमें से कुछ का संग्रह किया है और वे भाष्यकार हमारे लिए प्रमाण हैं– तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सूत्र से हटकर (उत्सूत्र) व्याख्या करने वाले भाष्यकार प्रमाण नहीं होते। इस आपेक्ष का निरास करते हुए युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि साख्यकारिका में अवयवों की उपपत्ति दिखाने में कोई दोष नहीं, क्योंकि यद्यपि सूत्रकार ने इनका कथन नहीं किया है फिर भी इनके होने का अनुमान हम कुछ लिंगों द्वारा कर सकते हैं जैसे–दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा, 'तदपघातके हेतौ' (का0 1)–से जिज्ञासा और प्रयोजन को बताया गया है। 'कारणमस्त्यव्यक्तम्' (का0 16) से 'प्रतिज्ञा' का कथन किया गया है, भेदानां परिमाणात्' (का 15) से हेतु को बताया गया है, 'नटवद् व्यवतिष्ठतेलिंग' (का 42) से 'दृष्टान्त' को, 'क्षीरस्य यथा तथा प्रवृतिः प्रधानस्य' (का0 57) से उपसंहार

(उपनय) को और 'तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि' से निगमन को बताया गया है। सूत्रकार ने इन अवयवों का कथन अलग नहीं किया, क्योंकि ये प्रमाणों में ही अन्तर्भूत हैं। जिज्ञासादि सभी अवयव अनुमान प्रमाण के अंग हैं। पुनश्च विंध्यवासि आदि प्राचीन सांख्याचार्यों ने अपने–अपने ग्रन्थों में इनका कथन किया है और वे आचार्य हमारे लिए प्रमाण स्वरूप है। इसलिए भी जिज्ञासादि अवयवों का पृथक–पृथक कथन सांख्यकारिका में नहीं किया गया है।किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि तव तो प्रमाणों का भी कथन नहीं होना चाहिए था।

क्योंकि इनका उपदेश भी वार्षगण्य आदि प्राचीन सांख्याचार्यों ने किया है। इस पर युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कि प्रधान का उपदेश होने पर गौण की सिद्धि अपने आप हो जाती है क्योंकि वह उसी के अन्तर्गत है और केवल यहीं पर नहीं बस्कि अन्यत्र भी इस आचार्य (ईश्वर कृष्ण) ने यही पद्धति अपनाते हुए केवल प्रधान का ही उपदेश किया है और जो उसके अंगभूत हैं उनका ज्ञान उसी से हो जाता है।[15]

4. **अन्यूनता- शास्त्र-प्रतिपाद्य सम्पूर्ण पदार्थों का विवेचन ही अन्यूनता है और यह गुण सांख्यकारिका में है, क्योंकि परमर्षि कपिल-प्रणीत षष्टितन्त्र में जिन** 60 **पदार्थों का वर्णन है उसका विवेचन यहाँ किया गया है।** 10 **मौलिक पदार्थ हैं- प्रकृति का अस्तित्व, एकत्व, अर्थवत्ता, अन्यता, पाराश्र्य और पुरुष का बहुत्व, वियोग, योग शेषवत्ति एवं अकर्तृत्व।** 5 **प्रकार के विपर्यय,** 9 **बार की तृष्टियाँ,** 8 **सिद्धियाँ और** 28 **प्रकार के करणवैकल्य -**

ये ही 60 पदार्थ हैं जिनका विवेचन सांख्यकारिका में पूर्णरूपेण किया गया है[1]।

5. संशयः अनवधारणात्मक ज्ञान को संशय कहा जाता हैए क्योंकि यहाँ एक ही पदार्थ में दो परस्पर विरूद्ध धर्मो के होने का अनिश्चायक ज्ञान होता है[2]। युक्तिदीपिका में सामान्य कथन को संशय कहा गया है।[3] जैसे महदादि कार्य प्रकृति के असमान है और समान भी (का. 8)। ऐसा कहने पर संशय होता है कि किन गुणों के कारण ये प्रकृति से भिन्न स्वरूप वाले हैं अथवा किन गुणों के कारण प्रकृति के समान है? शास्त्र रचना में इस युक्ति द्वारा दो विरोधी गुणों अथवा मतों को समझाने में सहायता मिलती है।

6. निर्णय- संशय का परिहार करते हुए एक निश्चित अर्थ की स्थापना निर्णय है। युक्तिदीपिका में विशेष कथन को निर्णय कहा गया है और उसे दो प्रकार का माना गया है- शाब्दिक और अर्थ के अनुसार (शब्दतः अर्थतश्च)। शाब्दिक का उदाहरण- सकारण होने से महदादि कार्य प्रकृति से भिन्न स्वरूप वाले हैं (का. 10) और त्रिगुणात्मक होने से ये प्रकृति के समान हैं। (का. 11) आदि अर्थ अनुसार निर्णय का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि इन (तन्मात्रों) से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं जो ''विशेष'' कहे जाते हैं इसलिए शान्त, घोर और मूढ़ हैं (का0 38) जबकि तन्मात्र अशान्त, अघोर और अमूढ़ हैं तथा अविशेष हैं। इस तन्त्रयुक्ति द्वारा आक्षेपों का उत्तर दे दिया जाता है और जिस विषय में सन्देह हुआ है उसका निर्धारण होता है। विभिन्न वैकल्पिक मतों का विचार करते हुए एक निश्चित निष्कर्ष निकाला जाता है।

7. उद्देश्य – प्रतिपाद्य विषय का संक्षेप में कथन उद्देश्य कहलाता है। जैसे- 'एष प्रत्ययसर्गो विषयशिक्तितुष्टि सिद्धयाख्या' (का0 86) यहाँ 50 पदार्थों का संक्षेप में कथन किया और यह नहीं बताया गया कि विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि सिद्धियाँ कितने प्रकार की हैं। इस युक्ति द्वारा विषयों का संक्षिप्त

परिचय पाकर अध्येता में उनके स्वरूप को विस्तार से जानने की उत्सुकता होती है।

8. निर्देश - प्रतिपाद्य विषय जिसका उद्देश्य (संक्षेप कथन) किया गया है- का विस्तार पूर्वक विवेचन निर्देश कहलाता है (विस्तारवचनं निर्देश)। जैसे सांख्यकारिका में 50 पदार्थों का संक्षेप कथन करके अगली कारिकाओं में उनका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है - पंच विपर्ययभेदाभवन्ति ;का. 40) भेदस्तममोऽष्टविधः (का. 48) इत्यादि।

9. अनुक्रमः - किसी भी शास्त्र में प्रतिपाद्य विषयों का यथाक्रम विवेचन अनुक्रम कहलाता हैं[4] जैसे प्रकृति से महद, महद से अहंकार, अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ और पंचतमात्र और पंचतन्मात्राओं से पंञ्चमहाभूत (का0 22) इत्यादि क्रम में तत्त्वों का निरूपण करने से उनके स्वरूप का प्रतिपादन स्पष्ट एवं सुसंगत बनता है।

10. संज्ञाः - अपने द्वारा इंगित विषय का ज्ञान कराने वाला शब्द संज्ञा है।[5] यह दो प्रकार की होती है- अर्थनिबन्धना (शाब्दिक) और स्वरूपनिबन्धना। अर्थनिबन्धना संज्ञा किसी विषय की सोद्देश्य क्रिया की अपेक्षा से होती है और अपनी जाति (वर्ग) में अन्तर्भूत विषय का सज्ञि के अनुरूप बताती है, जैसे-पाचक (पकाने वाला) लावक (काटने वाला) इत्यादि। स्वरूपनिबन्धनम संज्ञा अपने संज्ञि का ज्ञान कराने का उपाय मात्र है जो तदनुरूप विषय के न होने पर भी अपने स्वरूप से ही उसका ज्ञान करा देती है जैसे- गजकर्ण, अश्वकर्ण इत्यादि (क्योंकि ये नाम किसी को भी दिए जा सकते हैं, चाहे उसका गज या अश्व की तरह कर्ण हो या न हो)। प्रयत्नपूर्वक भगवान कपिल ने अर्षज्ञान द्वारा सांख्यशास्त्र के सभी तत्त्वों के स्वरूप को जानकर ही उनको नाम (संज्ञा) दिया अतएव यहाँ स्वरूपनिबन्धना संज्ञा नहीं है, उनका शाब्दिक अर्थ है जैसे- जो विकारों को धारण करता है वह

प्रधान है (प्रधीयन्ते विकारोऽत्र इति प्रधानम्) और जो शरीर में रहता है वह पुरुष है (पुरिशेते इति पुरुषः) इत्यादि।

11. उपदेश- इति कर्तव्यता (ऐसा करना चाहिए) के फल को बताना उपदेश कहलाता है जैसे ''हमें तत्वाभ्यास करना चाहिए इस इति कर्तव्यता का फल बताते हुए कहा गया है कि - इस प्रकार तत्वाभ्यास करने से मैं नही हूँ'' ''ये मेरे नहीं हैं ''मैं कर्ता नहीं हूँ'' इस प्रकार पूर्ण यथार्थ एवं विशुद्ध केवल ज्ञान उत्पन्न होता है'' ;का0 64) शास्त्राध्ययन के फल का उपेदश जिज्ञासु की उसके प्रति प्रवृत्ति को जगाने के लिए आवश्यक होता है।

12-13. उत्सर्ग एवं अपवाद - सामान्य नियम को उत्सर्ग कहते हैं और किन्हीं विशेष कारणों से उस नियम के विरोधी का कथन अपवाद कहलाता है। जैसे-महदादिव्यवन प्रकृति से भिन्न स्वरूप हैं- यह उत्सर्ग है और ''ये प्रकृति के समान हैं'' यह उपवाद है तत्रोत्सर्ग प्रकृतिविरूपं व्यक्तं सरूपं चेत्यपवादः (का. 8) इसी तरह पुरुष उससे भिन्न है। (तद्विपरीतः का. 11) यह उत्सर्ग है और पुरुष उसके समान भी है (तथा च पुमात का. 11). अपवाद है। इन दोनों तन्त्रयुक्तियों का प्रयोग साथ-साथ होता है। इनमें किसी भी प्रतिपाद्य के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायता मिलती है और सम्भावित संशय का निरसन भी हो जाता है।

14. अतिदेश - किसी पदार्थ के धर्मों को अन्य पदार्थ में दिखाना अतिदेश है। किसी का लक्षण इस प्रकार बताना कि वह अन्य पर भी लागू हो जाय। किसी पदार्थ के लक्षण को बताकर यह कहना कि इसी प्रकार अन्य पदार्थो को भी समझना चाहिए। अतिदेश है जैसे- ''व्यक्त (पदार्थ) सामान्य अचेतन और प्रसवधर्मी है- ऐसा भी प्रधान (भी) है (का0 11)। इस तन्त्रयुक्ति के द्वारा परस्पर सम्बन्धित विषयों को जोड़ा जाता है। सम्बद्ध विषय से परे अन्य विषयों पर उक्त लक्षण को घटित किया जाता है। यह युक्ति शास्त्राध्येता को समान विषयों को ध्यानपूर्वक विचार करने को प्रेरित करती

है और तत्सदृश ऐसे विषयों को जोड़ने के योग्य बनाती है, जिनका कथन नहीं हुआ रहता।

युक्तिदीपिका में उपरोक्त 14 तन्त्रयुक्तियों का विवेचन करके अन्य तन्त्रयुक्तियों की सम्भावना का संकेत किया गया है। पाणिनि, कौटिल्य, चरक, सुश्रुत एवं विष्णुधर्मोतर पुराण में विवेचित उन तन्त्रयुक्तियों का यहाँ नामसङ्कीर्तन किया जा रहा है जिनका उल्लेख युक्तिदीपिका में नहीं हुआ है।[7]

15. अतिक्रान्तावेक्षरण- पूर्व कथन का प्रसंगवश उल्लेख करना कि ऐसा पहले कहा गया है और इसके द्वारा वर्तमान विषय को पुष्ट करना अतिक्रान्तावेक्षण है।

16. अधिकरण- विवेच्य विषय को अधिकरण कहते हैं जिसके विषयए संशयए पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष एवं निर्णय- ये पाँच अंग होते है।

17. अनागतावेक्षरण- बाद में होने वाले विवेचन का प्रसंगवश उल्लेख करना कि आगे चलकर इसका वर्णन यथास्थान किया जायेगा।

18. अनुमत- बिना खण्डन किये दूसरे के मत को स्वीकार करना।

19. अपदेश-साध्य को सिद्ध करने के लिए हेतु का कथन करना।

20. अपवर्ग- सामान्य नियम के विरोधी कथन अपवर्ग हैं इसे ही अपवाद कहा गया है।

21. यर्थापत्ति- प्रयुक्त शब्द द्वारा अव्यक्त अर्थ का ग्रहण करना अर्थापत्ति है।

22. उत्तरपक्ष- प्रतिपक्षी के कथन का खण्डन करते हुए उसको उत्तर देना और अपने सिद्धान्त की स्थापना करना उत्तरपक्ष है।

23. उद्धार- परपक्ष में दोष दिखाते हुए स्वपक्ष का दृढ़तापूर्वक कथन उद्धार है।

24. उपमान- सादृश्य के आधार पर ज्ञात विषय से अज्ञात विषय का ज्ञान।

25. ऊह्य- ग्रन्थ में स्पष्ट रूप में जो नहीं कहा गया हैए प्रज्ञा एवं तर्क द्वारा उसकी उपस्थापना उह्य है।

26. एकांत- जो अव्यभिचरित रूप से सदैव सर्वत्र एक सा रहे।

27. दृष्टांत- विषय को सुबोध एवं सुस्पष्ट करने के लिए किया गया कथन।

28. निदर्शन- ऐसा दृष्टान्त जिससे अन्य का प्रकाशन हो सके और जिसे मूर्ख एवं विद्वान दोनों समझ सकें।

29. नियोग - शास्त्र की आज्ञा को नियोग कहते हैं, जिसका पालन आवश्यक होता है।

30. निर्वचन- शाब्दिक व्युत्पत्ति द्वारा विषय के स्वरूप का बोध करना निर्वचन है।

31. नैकांत- अपवाद से युक्त कथन जो कभी-कभी सत्य न भी हो।

32. पदार्थ- पद के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला अर्थ।

33. पूर्वपक्ष-विरोधी मन की उपस्थापना जिसका कि खण्डन बाद में कर दिया जाता है।

34. प्रत्युत्सार- परस्पर मतों का उपपत्तिपूर्वक निवारण अथवा किसी कथन के आदि या मध्य में लुप्त पदों को बताना प्रत्युत्सार है।

35. प्रदेश - जब विषयों के अनेक होने से उनका एक साथ संपूर्णता में कथन न कर सकने के कारण उनके एक भाग का ही कथन होता है तो वह प्रदेश कहलाता है।

36. प्रयोजन- जिसके सम्पादन के लिए शास्त्र प्रवृत्त है।

37. प्रसंग-पूर्वोक्त विषय का किसी सम्बन्ध की अपेक्षा से पुनः कथन करना।

38. योग- उद्देश्य और निर्देश को अथवा सूत्र एवं भाष्य को जोड़ना योग है। पदार्थ और वाक्यार्थ को सम्बन्धित करना भी योग है।

39. वाक्यशेषवाक्य को पूर्ण करना वाक्यशेष है।

40. विकल्प- विभिन्न सम्भावनाओं पर विचार करना विकल्प है।

41. विधान- शास्त्रगत विषयों का प्रकरण के अनुसार निर्धारण करना।

42. विपर्यय- वैध रूप में स्वीकृत विपरीत मत।

43. व्याख्यान - किसी विषय के विशिष्ट स्वरूप का विवेचन करना। यह निर्देश से मिलती-जुलती तन्त्रयुक्ति है।

44. समुच्चय- परस्पर एक दूसरे से भिन्न अनेक विषयों का एक में समन्वय।

45. संभव- जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसका संभव है।

46. हेत्वर्थ- किसी विषय को सिद्ध करने वाला हेतु हेत्वर्थ है।

इन तन्त्रयुक्तियों के विश्लेषण से ज्ञात होता हे कि इनमें से कुछ प्रधान हैं और कुछ गौण है। ये युक्तियाँ एक प्रकार से आगमनात्मक युक्तियाँ हैं जिनके प्रयोग से शास्त्र में अस्पष्टता द्वयर्थता, असंगति विरोध, आदि दोषों के दूर होने की सम्भावना बढ़ती है। इन्हें निगमानात्मक युक्ति के रूप में अथवा मूल्यांकन की कसौटी के रूप में नही रखा जा सकता। वस्तुतः ये मात्र उपाय हैं, जिनके माध्यम से शास्त्र के वास्तविक अर्थ को समझा जा सकता है और ये शास्त्र रचना में भी सहायक होती हैं। इसीलिए अचार्यों ने इनके महत्व को स्वीकार कर इनका विवेचन किया।

सन्दर्भ:

1. महाभाष्य 1/4/54, अयं तन्त्रशब्दोऽस्त्येव विताने वतंते तद्यथा आस्तीर्ण तन्त्र प्रोक्त तन्त्रमिति।
2. तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितम्।
   त्राण च कुरूते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते।।
3. चरकसहिता, 'तत्रायुर्वेदः शाखा विद्या सूत्रं ज्ञानं शास्त्रं लक्षणं तन्त्र मित्यनर्थान्तरम्।'
4. तन्त्रय्क्तिः, भूमिका, पृष्ठ 1. युज्य्न्ते संकल्प्यन्ते सम्बध्यन्ते परस्परमर्थाः सम्यक्तया प्रकारांणकेऽभिमतेऽर्थे विराधव्याघातादिदोषमपास्यानया इति युक्तिः।
5. चरकसहिता भाग 2, पृ0 1031

यथाऽम्बुजवस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा।

प्रबोधस्य प्रकार्शाः, तथा तन्त्रस्य युक्तः।।46।।

6. सुश्रुतसंहिता पृ0 857, असद्वादिप्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधनम्।

स्ववाक्यसिद्धिरपि च क्रियते तन्त्रयुक्तितः।।5।।

7. अष्टांगहृदयम्।

8. तन्त्रयुक्तिविचारः, अवतारिका प्रथम, पृ0 4।

9. अर्थशास्त्र, पृ0 456।

10. सुश्रुतसंहिता, पृ0 857–58।

11. विष्णुधर्मोत्तर पुराण, तृतीय खण्ड, छठाँ अध्याय पृ0 13।

12. चरकसंहिता भाग 2, पृ0 1029।

13. तन्त्रयुक्तिविचारः, पृ0 2।

14. युक्तिदीपिका (संपा0 रामचन्द्र पाण्डेय) पृ0 2

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं, सारवद्विश्वतोमुखम्।

अस्तोभमन वद्यं च, सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।

लधूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।

सर्वतः सारभृतानि, सूत्राण्याहुर्मनीषिण।।

15. युक्तिदीपिका पृ0 4, (इन अवयवों की विशेष व्याख्या के लिए देखें पृ0 41–43)।

16 **युक्तिदीपिका उपोद्घात श्लोक** 10.12**, पृ**. 127.134

17 **तन्त्रयुक्तिविचार अवतारिका** 1**, पृ**. 2 **संशयों नाम विरूद्वानां पक्षाणाम निश्चय।**

18 **युक्तिदीपिका पृ**. 4, "**सामान्याभिधानं संशयः।**"

19 **वही पृ**. 5 **पदार्थनामानुपुव्रर्या सन्निवेशोपदेशोऽनुक्रमः।**

20 **वही संज्ञिप्रत्यायनार्थः शब्दः संज्ञा।**

21 **डब्लू के0 लेले- "डाक्ट्रिन आँव् तन्त्रयुक्ति", पृ**. 45.60**।**

22 **सर्वतन्त्रसिद्धान्तयदार्थलन्नण संग्रह पृ**. 11,

विषयो विशायश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।

निर्णयश्चेतिं पंचांग शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्।।

डाँ कृपाशंकर
दर्शन एवं धर्म विभाग
बी0एच0यू0 वाराणसी

धार्मिक सहिष्णुता का आधार

प्रो0 ऋषिकान्त पाण्डेय

'धर्म का इतिहास मानव सभ्यता का इतिहास है' मैक्समूलर के इस कथन का अभिप्राय यह है कि जबसे मानव सभ्यता का विकास मिलता है तभी से धर्म का भी इतिहास मिलने लगता है। लेकिन सभ्यता एवं संस्कृति में परिवर्तन के साथ-साथ धर्म के स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया। आज वह स्वयं अपने आपको परिष्कृत एवं परिमार्जित करते हुए अपने स्वरूप को जीवन्त एव गत्यात्मक बनाए हुए है। इस प्रकार धर्म वह गत्यात्मक अवधारणा है जो सभी प्रकार के परिवर्तनों में अपने आपको विकसित करते हुए अपने मूल एवं सैद्धान्तिक अक्षुण्यता को बनाये रखा है। स्पष्टतः धर्म का व्यक्ति एवं समाज पर अत्यन्त ही गहरा प्रभाव रहा है। इस दृष्टि से किन्सले डेविस का यह कहना ठीक ही है कि "धर्म मानव समाज का वह सर्वव्यापी, स्थायी एवं शाश्वत तत्व है, जिसे समझे बिना मानव समाज के स्वरूप को ही नहीं जाना जा सकता है।"[1]

ऐसी परिस्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि धर्म का स्वरूप क्या है? धर्म शब्द 'धृत्र' (धारणे) धातु में 'मन्' प्रत्यय लगा कर बना है जिसका धातुगत अर्थ है 'धारयतीति धर्मः' अर्थात धारण करना। इस प्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से धर्म की कई परिभाषाएँ दी जाती हैं।

- धियते लोकः अनेन इति धर्मः, जिसके द्वारा लोक को धारण किया जाय, वह धर्म है।
- धरति धारयति वा लोकम्, जो लोक को धारण करता, वह धर्म है।
- ध्रियते यः स धर्मः, जो दूसरों द्वारा धारण किया जाय, वह धर्म है।

स्पष्टतः यहाँ धर्म का प्रयोग एक विधायक-वृति के रूप में किया गया है। अर्थात् किसी भी वस्तु, व्यक्ति या समाज की जो मूल-वृत्ति है, वही उसका धर्म है, यथा, लेखनी का धर्म लिखना, शब्द का धर्म अर्थ बोधकता, अग्नि का

धर्म दाहकता एवं प्रकाश, व्यक्ति का धर्म विचारशीलता तथा समाज का धर्म सामाजिक सुव्यवस्था है। यदि उक्त वस्तु, व्यक्ति तथा समाज अपनी मूल-वृत्ति का परित्याग कर दे, तो वह अपनी संज्ञा खो देता है, वही समाज अनियंत्रित हो जाता है, जबकि मनुष्य पशु बन कर रह जाता है। इसी कारण महाभारत के शांतिपर्व में केवल धर्म के आधार पर ही मनुष्य एवं पशु में विभेद किया गया है।

"आहार, निद्रा, भय, मैथुनं च सामान्यमेतद् पशुभिः नराणाम्।
धर्मोंहि तेषमधिकों विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना ।।"[2]

पुनश्च, महाभारतकार लिखता है कि केवल मानव समाज का ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जगत की प्रतिष्ठा धर्म में ही है।[3] उसी प्रका तैतरीय आरण्यक में धर्म को सम्पूर्ण जगत का आधार एवं उसे विश्व में सर्वनिष्ठा तत्व कहा गया है (धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा)[4]। महर्षि कणाद धर्म को लौकिक उन्नति तथा पारमार्थिक कल्याण का साधन मानते हैं, (यतोऽभ्युदय निःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः)[5] एक तरफ चाणक्य इसे सुख एवं शांति का मूल कहते हैं, तो दूसरी तरफ उपनिषद इसमें सत्य तथा कर्तव्य को जोड़ कर इसमें अनिवार्यतः नैतिकता का पुट ला देती है। वहीं गीता में धर्म को मूलतः कर्तव्य के अर्थ में लिया गया है (कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन)[6]। इसी प्रकार मनुस्मृति में मनु धर्म को अनिवार्यतः नैतिकता से सम्पृक्त कर देते हैं।

"धृतिः क्षमाचदमोडस्तेयं शौमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यम्क्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।।"[7]

स्पष्टतः यहाँ धर्म को अत्यन्त ही व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। यह केवल उपासना, पूजा पद्धति तथा ईश्वर या अलौकिक सत्ता से सम्बन्धित विश्वास न होकर, जीवन के प्रत्येक कार्य-कलाप को धर्ममय कहा गया। यद्यपि यह अलग बात है कि जीवन का प्रत्येक क्रिया-कलाप धर्ममय होते हुए भी 'संयम' के साथ उसे नियंत्रित करने की बात की गई है। यदि धर्म से संयम को

निकाल दिया जाय तो वही धर्म, कुधर्म हो जाता है, क्योंकि 'अति सर्वत्र वर्जयेत'। इसी कारण डा. राधाकृष्णन अपनी पुस्तक "धर्म और समाज में लिखते हैं कि" धर्म चारों वर्णो तथा चारों आश्रमों के लोगों द्वारा, जीवन के चार पुरूषार्थों को, यथासम्भव प्राप्त करने का सम्पूर्ण नैतिक कर्तव्य है"।[8] जबकि प्रो. हावेल अपनी पुस्तक "आर्यन रूल इन इण्डिया में लिखते हैं कि "भारत में धर्म कोई विधि नहीं है बल्कि जीवन की विविध अवस्थाओं के लिए संघात आचरण की आयोजना है"। इसी प्रकार डॉ. पी.वी.काणे लिखते हैं कि धर्म किसी सम्प्रदाय या मत का द्योतक नहीं है, प्रत्युत यह जीवन का एक ढंग या आचार संहिता है, जो समाज के किसी अंग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्य के कर्मों एवं कृत्यों को व्यवस्थापित करता है तथा उसमें क्रमशः विकास लाता हुआ उसे मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुँचने के योग्य बनाता है।"[10]

दूसरी तरफ, Religion शब्द Religere से बना है, जिसका अर्थ होता है बांधना। इस प्रकार रिलीजन वह है जो कि मनुष्य एवं ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करता है तथा जो विभिन्न मनुष्यों को परस्पर एक-दूसरे से संबन्धित करता है। चैम्बर्स की ट्वेन्टीथ सेन्चुरी- डिक्शनरी(1947) में Religion के दो महत्वपूर्ण पक्ष बताये गये हैं। पहला, दैवी सत्ता के प्रति अनुज्ञा तथा दूसरा, मजहबी संगठन की सदस्यता की प्रबल उत्कण्ठा। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाये, तो Religion के अन्तर्गत निम्न विशिष्टताएं परिलक्षित होती है।

- Religion किसी न किसी रूप में पारमार्थिक सत्ता से सम्बन्धित होता है। इसके अनुसार ईश्वर नितान्त गुह्य या रहस्यमयी है।
- तथापि मानव के कल्याणार्थ वह अपने आदेशों को, पैगम्बरों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। अतः इन पैगम्बरों का आदेश ही Religion होता है।
- जो इन आदेशों पर विश्वास करते हैं वे सभी मिल कर एक पंथ या सम्प्रदाय का गठन करते हैं।

- Religion से सम्बन्धित विशिष्ट प्रकार के कर्मकाण्ड भी होते हैं, जिन्हें Religion का आधार कहा जा सकता है।
- अंततः Religion का आधार बौद्धिकता या तर्क न हो कर मूलतः आस्था या विश्वास है।

इन्हीं मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में धर्म और रिलीजन में विभेद किया जा सकता है, रिलीजन में जहाँ 'बांधने' की बात होती है, वहीं धर्म में 'स्वतंत्रता' की। लेकिन यह स्वतंत्रता न तो नियंत्रण और न ही अनियंत्रण, बल्कि यह आत्मनियंत्रण की स्थिति है, जहाँ व्यक्ति अपनी आत्मा के द्वारा अनुशासित एवं मर्यादित होता है। इसी प्रकार रिलीजन में कठोरता एवं अनम्यता होती है, जबकि धर्म में मृदुलता एवं नम्यता होती है। इसी कठोर अर्थ में रिलीजन को माकर्स गरीबों का अफीम" और फ्रायड "मनोव्याधि" कहता है। पुनश्च, धर्म के लिए पैगम्बर का आदेश, कर्मकाण्ड एवं सम्प्रदाय बनाने की भावना का होना आवश्यक नहीं है?' जबकि रिलीजन के लिए यह अनिवार्य तत्व हैं। इसलिए आचार्य बलदेव उपाध्याय अपनी पुस्तक "भारतीय धर्म दर्शन" में लिखते हैं कि रिलीजन का पर्याय मजहब (पंथ) है, न कि धर्म।"[11] धर्म वह शाश्वत, स्थायी या देशकाल की सीमा का अतिक्रमण करने वाला तत्व है जो विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप अपने आपकों परिष्कृत एवं परिमार्जित करते हुए अपनी सैद्धान्तिक अक्षुण्यता बनाये रखता है। इस अर्थ में धर्म तो केवल हिन्दू धर्म ही है, अन्य सभी धर्म, रिलीलन ही है। फिर भी व्यापक रूप में दोनों का प्रयोग समानार्थक रूप में होता रहा है।

लेकिन धर्म के नाम पर एक धर्म के अनुयाइयों के बीच जितना सौहार्द्र एवं प्रेम की भावना दृढ होती है, उतना ही अन्य धर्मावलम्बियों के बीच कटुता एवं वैमनस्य फैलता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि धर्म के नाम पर जितना रक्तपात हुआ है, उतना अन्य किसी चीज के नाम पर नहीं। स्वामी विवेकानन्द ने तो यहां तक कहा कि जब मैं विदेशों की यात्रा पर था तब लोगों

के आचरण को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि वे मेरी हत्या भी कर देते तब इसमें मुझे कोई आश्चर्य नहीं होता। प्रश्न उठता है कि इस धार्मिक असहिष्णुता का कारण क्या है? इसके मूलतः तीन कारण परिलक्षित होते हैं;

- 'तआस्सुबी बुद्धि' अर्थात मेरा धर्म ही एक मात्र सत्य धर्म है, अन्य सभी धर्म झूठे हैं।
- 'अज्ञानता' असहिष्णुता के लिए काफी हद तक उत्तरदायी है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही धर्म का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाये, तब उसमें कट्टरता नहीं, बल्कि सद्भावना विकसित होती है, क्योंकि कोई भी धर्म हिंसा एवं रक्तपात पर आधारित न होकर प्रेम और सौहार्द्र पर आधारित होता है।
- वर्तमान परिप्रेक्ष्य में धार्मिक असहिष्णुता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण 'राजनीतिक' है। राजनीतिज्ञ अपने निहित स्वार्थों के लिए धर्म के नाम पर समाज में कटुता एवं वैमनस्य फैलाते रहते हैं, जिसके कारण समाज में असहिष्णुता पनपती है। इसे 'धर्म' का राजनीतिकरण' कहा जा सकता है।
- अपने धर्म को मानने वालों की संख्या में अभिवृद्धि की अभिलाषा; पहला, संख्या वृद्धि से सामाजिक एवं राजनीतिक सत्ता पर अधिकार। दूसरा, सबसे बड़ा धार्मिक समुदाय होने का गौरव एवं सुख। तीसरा, धार्मिकोन्माद की प्रवृत्ति। चौथा, अन्य धर्मावलम्बियों को विधर्मी मानते हुए उनकी समाप्ति।

वास्तव में सहिष्णुता कोई स्तुत्य अवधारणा नहीं है क्योंकि सहिष्णुता का प्रयोग वहाँ ही होता है, जहाँ सिद्धान्त अपने अनुकूल नहीं हो, फिर भी हम उसे सहन कर रहे है। इस प्रकार इसमें स्वतंत्रता नहीं बल्कि एक प्रकार की मजबूरी या विवशता झलकती है। कुछ धर्मों में तो असहिष्णुता को तार्किक रूप से न्याय संगत माना गया है। माँरिस क्रैम्स्टन अपने लेख 'टॉलरेशन'[29] में लिखते हैं कि ईसाई धर्म के समर्थक, दूसरे धर्म को प्रताड़ित करना ही अपना धार्मिक कर्तव्य मानते हैं। वे तर्क भी देते हैं, पहला जो व्यक्ति धार्मिक (ईसाई)

नहीं है, ईश्वर उससे क्रोधित होता है। फलतः वह ऐसे मनुष्यों को दण्डित करता है। इन परिस्थितियों में धर्मद्रोहियों का दमन आवश्यक है। दूसरा, जिस तरह राज्य की एक व्यवस्था होती है, उसी तरह धर्म की भी एक व्यवस्था है। अतः जैसे राजद्रोह दण्डनीय अपराध है, वैसे ही धर्मद्रोह भी दण्डनीय अपराध है। ऐसी परिस्थिति में विधर्मी को दण्ड देना उचित एवं न्याय संगत है। तीसरा, राज्य के कानून एवं व्यवस्था के समान धर्म का कानून एवं व्यवस्था भी सामाजिक सुव्यवस्था के लिए आवश्यक है। अतः धर्मद्रोह के विरूद्ध कठोर दण्ड का प्रावधान अति आवश्यक है। चौथा, धर्मद्रोही को दण्ड देना स्वयं उसके हित में है, अन्यथा उसके अपराध से क्षुब्ध होकर ईश्वर उसे हमेशा-हमेशा के लिए घोर नरक में डाल देगा, जहाँ वह अनन्तकाल तक असहनीय पीड़ा सहता रहेगा। अतः उनकी हत्या कर देना उचित है, क्योंकि जब तक वे जीवित रहेंगे, पाप करते रहेंगे। यही कारण है कि ईसाई धर्म के अनुयाइयों ने बहुत से ऐसे संघर्ष किये हैं' जो केवल धर्म के नाम पर हुआ है।

प्रश्न उठता है कि धार्मिक सहिष्णुता का क्या अर्थ है? धार्मिक सहिष्णुता के कई अर्थ किये गये हैं। मोहम्मद जिन्ना सहिष्णुता को 'सहनशीलता' बताते है। लेकिन सहनशीलता में 'विवशता का भाव' झलकता है. मनुष्य के अन्दर सहनशीलता का भाव तब आता है, जब वह विवश होकर या अपनी निर्बलता के कारण, किसी शक्ति का सामना करने में असमर्थ हो जाता है। यही नहीं कोरी सहनशीलता में घृणा का भाव भी झलकता है, क्योंकि सहनशीलता के प्रेरक तत्व मूलतः चार हैः

- असमर्थता या अयोग्यता
- उदासीनता
- सांत्वना प्राप्त करने की इच्छा
- बौद्धिकता, जिसके द्वारा यह देखा जाता है कि शक्ति कोई उपाय नहीं है।

इस प्रकार 'सहनशीलता' को सहिष्णुता का पर्याय नहीं माना जा सकता।

दूसरी तरफ, काका साहब कालेलकर सहिष्णुता को 'समादर' के रूप में स्वीकार करते हैं। लेकिन गाँधी जी के अनुसार 'समादर' में 'कृपा' का भाव झलकता है। इसलिए गाँधी जी सहिष्णुता का अर्थ 'सर्वधर्मसमभाव' करते हैं उनके अनुसार 'समादार' एवं 'समभाव' एक दूसरे के पर्याय नहीं है, क्योंकि समभाव में कृपा की भावना नहीं है, बल्कि बराबरी की भावना झलकती है। उनके अनुसार समभाव का अर्थ है अपने धर्म की अपूर्णता को स्वीकार करना, क्योंकि हम अपूर्ण है, अतः हमारी कल्पना पर आधारित धर्म भी अपूर्ण है। उनके अनुसार यथार्थ धर्म तो केवल सत्धर्म है, जिसकी ओर सभी धर्म विकासोन्मुख है। इसीलिये गाँधी जी कहा करते थे कि सभी धर्म सच्चे हैं' परन्तु अपूर्ण हैं' क्योंकि सभी धर्म मानवीय बुद्धि पर आधारित है। अतः प्रत्येक धर्मावलम्बी को अपनी धर्म की अपूर्णता को स्वीकार करते हुए उसके परिष्कार करने की नहीं, बल्कि उसमें अंतर्निहित कमियों को दूर करते हुए उस आत्मसात् करने की आवश्यकता है।

इसी प्रकार स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी ने भी कहा है कि गलत बातें भला किस धर्म में नहीं है, जैसे सभी घड़ियां सही चलती है, परन्तु ऐसी कोई घड़ी नही है, जो बित्कुल ठीक-ठाक समय बताये। अन्ततः सभी घड़ियों को सूर्य के साथ मिलाना पड़ता है इसी प्रकार सभी धर्म सत्य हैं, परन्तु कोई भी धर्म पूर्ण सत्य नहीं है अन्ततः सभी धर्मों का गन्तव्य सत्धर्म ही है, जिसकी और सभी धर्म उन्मुख है।

हालाँकि प्रो. वेद प्रकाश वर्मा अपनी पुस्तक 'धर्म दर्शन की मूल समस्याएँ' में गाँधी जी के विचारों के प्रति असहमति व्यक्त करते हुए कहते है कि "यह धार्मिक सहिष्णुता गाँधी जी के सर्वधर्म-समभाव से भिन्न है। जब गांधी जी विभिन्न धर्मों के अनुयाइयों को सर्वधर्म-समभाव के अनुसार आचरण

करने की शिक्षा देते है, तो इससे उनका तात्पर्य यह है कि उन्हें एक दूसरे के धर्म का आदर करना चाहिए और परस्पर स्नेह तथा सौहार्द्र की भावना रखनी चाहिए। ..... शाब्दिक दृष्टि से भी सर्वधर्म-समभाव का अर्थ है, सभी धर्मों का सम्मान करते हुए उन्हें समान समझना-अर्थात किसी भी धर्म को अन्य धर्मों की अपेक्षा उत्कृष्ट या निकृष्ट न मानना।[13]"

लेकिन यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि प्रो. वर्मा ने सर्वधर्म-समभाव का जो अर्थ ग्रहण किया है, उसे न तो गाँधी जी मानते है और न ही यह शाब्दिक दृष्टिकोण से ही उपयुक्त है। गाँधी जी के अनुसार सर्वधर्म-समभाव का अर्थ 'समादर' नही होता क्योंकि आदर में बड़ा एवं छोटा का भाव झलकता हैं। ध्यातव्य है कि सहिष्णुता को समादर के रूप में काका साहब कालेलकर मानते थे, जिसका स्वयं गाँधी जी ने खण्डन किया। गांधी जी के अनुसार 'समादर' एवं 'समभाव' एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न है 'समभाव' 'बराबरी की भावना' पर आधारित है, जहां प्रत्येक धर्मालम्बी अपने धर्म की अपूर्णता को स्वीकार करते हुए, उसमें निहित कमियो को सतत् दूर करने का प्रयास करते हुए अन्ततः सत्धर्म की ओर बढ़ने का प्रयास करता हैं। इसी कारण इसका दूसरा अर्थ भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि प्रो. वर्मा सर्वधर्म-समभाव को 'समादर' के रूप में मानते है, जबकि यह 'समान भावना' है, जिसमें 'बराबरी' झलकती है, के समतुल्य है।

पुनश्च प्रो0 वर्मा लिखते हे कि सर्वधर्म-समभाव, सहिष्णुता इसलिए भी नही है, क्योंकि "धार्मिक सहिष्णुता रखने वाला व्यक्ति अपने धर्म से भिन्न अन्य सभी धर्मों के अस्तित्व का केवल सहन करता है; वह उनका समान रूप से अनुमोदन तथा आदर नहीं करता। इतना ही नहीं वह अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म को सत्य या श्रेष्ठ नही मानता, किन्तु फिर भी वह दूसरे धर्म के अनुयाईयों के साथ मिलकर शान्तिपूर्ण रहता है और उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाता।[14]

स्पष्टतः यहाँ पर प्रो0 वर्मा जो कुछ भी कह रहे हैं, यह उनका अपना मत हो सकता है, गाँधी जी का नही। गाँधी जी सहिष्णुता को 'समभाव' के समतुल्य मानते हुए कहते है कि 'समभाव' वह हे जिसे मजबूरी में नही, बल्कि अन्तःकरण के आधार पर स्वीकार किया जाता है तथा इसके अन्तर्गत सभी धर्मों को समान महत्व दिया जाता है। यहीं नहीं वह दूसरे धर्मों के साथ-साथ अपने धर्म को भी पूर्ण सत्य न मानकर आंशिक सत्य ही मानता हैं। वह अपने धर्म जानता है कि पूर्ण तो केवल सत्धर्म है, जिसकी ओर सभी धर्म उन्मुख है। यदि हम प्रो0 वर्मा की बातों को स्वीकार करें, "जब हम किसी व्यक्ति, विचार, सिद्धान्त, विश्वास या आदर्श के विषय में सहिष्णुता की बात करते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य यहीं होता है कि हम उसे सहन कर रहे हैं। किसी भी वस्तु को सहने करने की इस क्रिया में यह तथ्य अनिवार्यतः निहित रहता है कि हम वास्तव में उसे पसन्द नहीं करते, उसकी निन्दा करते है, अथवा उसके प्रति अननुमोदन की भावना रखते है।"[15] स्पष्टतः प्रो0 वर्मा का यह मत सहिष्णुता का बोधक नही, बल्कि सहिष्णुता में बाधक प्रतीत होता है, क्योकि जो निर्णय मजबूरी में लिये गये है, जिसे हम केवल सहन कर रहे हैं, वह कदापि स्थायी नहीं हो सकता। अन्ततः उसमें विद्रोही प्रवृत्तियाँ हावी हो जाती हैं और वह सहिष्णुता का परित्याग कर असहिष्णु बन जाता है। ऐसी परिस्थिति में प्रो0 वर्मा का यह विचार अनुपयुक्त प्रतीत होता है कि "जो मनुष्य सर्वधर्म-समभाव को स्वीकार करता है, उसके लिए धार्मिक सहिष्णुता अनिवार्य है, किन्तु जो मनुष्य केवल धार्मिक सहिष्णुता रखता है, वह सर्वधर्म-समभाव को स्वीकार करने की स्थिति तक नही पहुँच सका है।[16]" सम्भवतः यह मत प्रो0 वर्मा इसलिए स्वीकार करते है कि क्योंकि वे 'सहिष्णुता' एवं 'समभाव' को पृथक-पृथक अर्थ में ग्रहण करते हैं, जबकि गाँधी जी दोनों को एक दूसरे का पर्यायवाची मानते हैं।

पुनश्च, स्वामी विवेकानन्द सहिष्णुता का 'सहभागिता' स्वीकार करते है। उनके अनुसार सहभागिता के अन्तर्गत मूलतः चार बातें अन्तर्निहित है;

- सभी धर्मों का सम्मान।
- उनके धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना।
- उनकी पूजा पद्धति में सम्मिलित होना।
- एवं उनके धर्म की अच्छी बातों को ग्रहण करना।

इस प्रकार सहिष्णुता के अन्तर्गत सम्यक् दृष्टि को रखना आवश्यक है। यद्यपि गाँधी जी, स्वामी विवेकानन्द के प्रति सहमति व्यक्त करते हैं, परन्तु उनके अनुसार सच्ची सहभागिता तभी हो सकती है जब तक धर्मालम्बी अन्य धर्मावलम्बियों का केवल सम्मान ही न करें, बल्कि एक-दूसरे की सहायता भी करें, क्योंकि 'सहभागिता' तब तक अपूर्ण है, जब तक उनके साथ 'सहायता' अन्तर्निहित नहीं है। जब एक धर्मावलम्बी दूसरे धर्मावलम्बियों की 'सहायता' करता है, तभी अन्य धर्मावलम्बियों के मन में उसके प्रति सच्ची सहिष्णुता का भाव पैदा होता है।

प्रश्न उठता है कि धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना किस प्रकार सम्भव है? स्पष्टतः इसके लिए मूलतः दो प्रकार के उपाय अपेक्षित है पहला, सैद्धान्तिक या वैचारिक उपाय एवं दूसरा, व्यावहारिक उपाय। सैद्धान्तिक पक्ष के अन्तर्गत उन मान्यताओं एवं विचारों को प्रश्रय दिया जाता है, जो सहिष्णुता के लिए आवश्यक हैं, इसके लिए कुछ शर्ते आवश्यक पहली, ऐसा अक्सर देखा जाता है कि असहिष्णुता का भाव 'अज्ञानता' के कारण पनपता है, क्योंकि अज्ञानता संकीर्णता एवं धर्मान्धता को जन्म देती है। अज्ञानी व्यक्ति कट्टरपंथियों के बहकावे में जल्दी आ जाते है। अतः सहिष्णुता के लिए यह आवश्यक है कि कम से कम हमें अपने धर्म का ही समुचित एवं पूर्ण ज्ञान हो।

दूसरी, अपने धर्मो की मूल बातों को जानने के साथ-साथ हमें अन्य धर्मों की भी मूल बातों को जानना आवश्यक है, क्योंकि सही में सहिष्णुता तभी पनपती है, जब हमें सभी धर्मों का सम्यक् ज्ञान हो। इसके लिए तुलनात्मक धर्म को विभिन्न पाठ्यक्रमों में स्थान देना आवश्यक है, जहाँ सभी विद्यार्थियों को अपने धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों का भी तुलनात्मक अध्ययन कराया जा सके, इसी कारण गाँधी जी धार्मिक पाठ्यक्रम की वकालत करते थे।

तीसरी, इसके साथ-साथ विभिन्न धर्मों के बीच परस्पर विचार-विमर्श अर्थात विभिन्न विचारों का आदान-प्रदान भी आवश्यक है। एच.जी.गाडेमर जैस समकालिक विचारकों ने धार्मिक संवाद पर अत्यधिक बल दिया है। आधुनिक युग में रोमन चर्च ने धार्मिक एकता के उद्देश्य से विभिन्न धर्मों में परस्पर सम्भाषण की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए धार्मिक संवादों का आयोजन किया है, क्योंकि विभिन्न धर्मों को जानना ही पर्याप्त नही है, बल्कि यह भी आवश्यक है कि उनके बीच परस्पर वैचारिक सामंजस्य स्थापित हो। इसके लिए हमें धार्मिक संवादों का महत्व स्वीकार करना ही होगा।

चौथा, धार्मिक संवाद के साथ-साथ विभिन्न धर्मों की वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत व्याख्या आवश्यक है, जिसके अन्तर्गत अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों को प्रशमित कर उन प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिल सके, जो वैज्ञानिक एवं बौद्धिक रूप से तर्कसंगत है, यथा, इसाई धर्म स्वीकार करता है कि ईश्वर कबूतर के रूप में आता है, जबकि हिन्दू धर्म मे ईश्वर को बराह अवतार के रूप में माना गया है। इन पक्षों पर हमें अत्यधिक बल नहीं देना चाहिए, क्योंकि जब तक हम इन पक्षों पर बल देते रहेंगे, धर्म को रूढ़ियों से बचा पाना असम्भव हो जायेगा। जिसका परिणाम अन्ततः असहिष्णुता ही होगा।

जहाँ तक व्यावहारिक पक्ष की बात है, इसके अन्तर्गत उन पक्षों पर बल दिया जाता है, जो सहिष्णुता में बाधक हों। पहला, इसके लिए साम्प्रदायिक क्रिया-कलापों पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है, क्योंकि किसी भी धर्म के दो

पक्ष होते है, एक बाह्य पक्ष एवं दूसरा आन्तरिक पक्ष। धर्म का बाह्य पक्ष मूलतः कर्मकाण्ड पर आधारित होता है। इस अर्थ के सभी धर्म एक दूसरे से पृथक्-पृथक् है, क्योंकि प्रत्येक धर्म का कर्मकाण्ड अन्य धर्म के कर्मकाण्ड से पृथक है। यही धार्मिक असहिष्णुता के लिए सर्वाधिक जिम्मेदार तत्व है। जबकि धर्म का आन्तरिक पक्ष वह है, जहाँ कर्मकाण्ड की अपेक्षा उसके मूल तत्व यथा, प्रेम करूणा, उदारता, सहिष्णुता, समभाव, सदाशयता प्रभृति पर बल दिया जाता है। किसी भी धर्म का मूल तत्व कटुता एवं वैमवस्य नहीं है। मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।'यदि हम धर्म के मूल तत्व पर बल दे तो निश्चित रूप में साहिष्णुता स्थापित हो सकती है।

दूसरा, इसके लिए धार्मिक प्रचार पर तुरन्त प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि आधुनिक युग में संचार का माध्यम बढ़ा है, जिसके कारण विभिन्न संचार माध्यमों से किसी विशिष्ट धर्म का प्रचार एवं अन्य धर्म की निन्दा की जा रही है। यह अत्यन्त ही दुःखद एवं अनुचित है, क्योंकि प्रत्येक धर्म के साथ उस व्यक्ति की भावना जूडी होती है, जिसका परिवर्तन सरल नहीं है। परन्तु जब हम एक धर्म का प्रचार एवं अन्य धर्म की निन्दा करते है, तों यह प्रवृत्ति स्वभावतः समाज में कटुता एवं वैमनस्य पैदा करती है। इसलिए गाँधी जी संकीर्ण धार्मिक प्रचार के पक्ष में नहीं थे। उसके अनुसार यदि प्रचार करना ही है तो सार्वभौमिक धर्म का प्रचार होना चाहिए, जो प्रेंम और करूणा पर आधारित है, न कि घृणा और विद्वेश पर।

तीसरा, धार्मिक प्रचार क साथ-साथ धर्म परिवर्तन पर भी प्रतिबन्ध लगाना होगा, क्योंकि धर्म परिवर्तन के अन्तर्गत किसी विशेष धर्म के अनुयायी अपने धर्म की अनेकानेक अच्छाईयों को प्रदर्शित करते हुए सम्पूर्ण समाज को झूठे प्रलोभनों के नशा में सुला देते है जिससे अन्य धर्मावलम्बियों के मन में अपने धर्म के प्रति असंतोष की भावना जागृती होती है। यह प्रवृत्ति धार्मिक विद्रोह का कारण बन जाती है।

चौथा, असहिष्णुता का कारण यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य की अपेक्षा अधिकारों की माँग अधिक कर रहा है। लेकिन पूर्ण धार्मिक व्यक्ति वह नहीं, जो अधिकार की मांग करता है, बल्कि वह है, जो अपने कर्तव्य को अत्यधिक महत्व देता है। यथार्थतः यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने दायित्व का सम्यक् एवं निष्ठापूर्वक निर्वहन करे, तो अधिकार के माँग की आवश्यकता ही नही रह जाती है। अधिकर तो दायित्व के निर्वाह से स्वतः ही प्राप्त हो जाता है।

ऐसी परिस्थितियों में धार्मिक सहिष्णुता का वास्तविक आधार क्या हो सकता है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए प्रो. हरिशंकर उपाध्याय अपने लेख धार्मिक सहिष्णुता के तात्विक आधार में लिखते है कि करूणा ही सहिष्णुता का वास्तविक आधार है, जो अहिंसा से भी उच्चस्तरीय है। "अहिंसा से भी उच्चस्तरीय मूल्य करूणा का है। करूणा पर आधारित अहिंसा ही धार्मिक सहिष्णुता का तात्विक आधार हो सकती है। वस्तुतः करूणा ही किसी सम्प्रदाय के धर्म होने की कसौटी (निकष) है। यदि कोई धर्म करूणापरायण नहीं है, करूणा को नही उत्पन्न करता है तो उसे सच्चा धर्म नही कहा जा सकता है। प्रायः विश्व के सभी प्रमुख धर्म प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से करूणापरायण रहे है। धार्मिक असहिष्णुता, प्रतिहिंसा एवं अशान्ति का प्रमुख कारण व्यावहारिक जीवन में धर्म के मूल तत्व करूणा की उपेक्षा करना है। करूणा के होने पर न्याय, प्रेम, दान, उदारता आदि सदगुण सहज भाव से विकसित हो जाते है।[17]

यद्यपि यह सत्य है कि बिना करूणा के सहिष्णुता की स्थापना नही हो सकती है। लेकिन प्रश्न उठता है कि करूणा का भाव कब उदित होगा? प्रायः ऐसा देखा जाता है कि करूणा का भाव ऐसे व्यक्तियो में पनपता है, जो किसी न किसी रूप में परमसत्ता का साक्षात्कार कर लिये है, अर्थात जब व्यक्ति एक में सभी एवं सभी में एक की अनुभूति कर लेता है, तभी उसके अन्तर्मन में सबके प्रति समत्व भाव का उदय होता है, तभी वह करूणा से आप्लावित हो कर

लोगों के कल्याणार्थ अपने जीवन को उत्सर्ग कर देता है। इसका तात्पर्य यह है कि करूण से भी आगे की एक चीज है और वह है आत्मसाक्षात्कार या आत्मनुभूति, जहाँ व्यक्ति उस परम्तत्व का साक्षात्कार करके सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उसी एक तत्व की अनुभूति करता है। अतः यदि सहिष्णुता का वास्तविक आधार आत्मसाक्षात्कार को माना जाय, तो इसमें कोई अतिश्योक्ति नही होगी।

लेकिन यदि रहस्यवादी आत्मलाभ करके संसार से विरत हो जाए तब ऐसी आत्मसाक्षात्कार से क्या लाभ? इसके लिए आवश्यक है कि आत्मलाभ प्राप्त करके वह लोक कल्याणार्थ (लोक संग्रह) की भावना से अनुप्रेरित होकर सम्पूर्ण प्राणियों की दुःखमुक्ति हेतु, अपने जीवन को समर्पित करें, जैसाकि महात्मा बुद्ध, रामकृष्ण परमहंस, डाँ चतुर्भुज सहाय, महार्षि रमण, स्वामी विवेकानन्द आदि संतों ने किया। इस रूप में प्रो. उपाध्याय का यह कहना ठीक ही है कि जो धर्म के नाम पर सामाजिक जीवन के झंझावात एवं विद्रूपताओं से पलायन करके आध्यात्मिक रहस्यवाद की शरण में चले जाते है। वे ज्ञान और कर्म के मूर्त क्षेत्र से अलग होकर सामाजिक सम्बन्धों की उपेक्षा करके एक काल्पनिक स्वर्ग की तलाश में मग्न रहते है। जीवन की समस्याओं से ऊबकर पलायन करने वाले ये सन्यासी श्रेय और प्रेय के बीच अन्तर्विरोध और अनतिक्रम्य भेद की कल्पना कर लेते हैं। वे जीवन के निषेधात्मक पक्षों, सामाजिक अशुभ एवं अशान्ति के प्रति उदासीन हो जाते है। इस प्रकार वे लोक कल्याण रूपी श्रेय से हटकह एक यूटोपीय दैवी लोक में रमण को ही निःश्रेयस मानते हैं। कुछ रूढ़िवादी धर्मोवलम्बी ऐसे भी होते है, जो धर्म को पलायन का मार्ग तो नही मानते है, परन्तु वे उसे (धर्म को) स्थापित परम्पराओं एवं यथास्थितिवाद की रक्षा करने का साधन मान लेते है। स्पष्टतः यह स्थिति सहिष्णुता के अनुरूप नहीं है।

उल्लेखनीय है कि लॉक अपनी पुस्तक एपिस्टोला डी.टॉलरशिया (1688) में धार्मिक सहिष्णुता को आवश्यक मानता है। उसके अनुसार पहला, अपने विद्रोहियों का दमन उपयुक्त नही है, क्योंकि इससे उनके भावनाओं को भले ही कुंठित एवं दमित किया जा सकता है। परन्तु उनके विचारों में परिवर्तिन असम्भव है। दूसरा, राजद्रोह की तरह अधार्मिक होना अपराध नही है, क्योंकि राजद्रोह से समाज में अराजकता एवं अव्यवस्था उत्पन्न होती है। जबकि धार्मिक या अधार्मिक होना व्यक्ति का निजी मामला है। इसे सामाजिक सुव्यवस्था से जोड़ना उपयुक्त नही है। तीसरा, सत्य क्या है? इसे कोई नही जानता। अतः केवल एक धर्म को सत्य एवं अन्य धर्म को झूठा कहने का कोई नैतिक औचित्य नही है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को अपने अन्तःकरण के अनुसार ही धर्म को स्वीकार करने का अधिकार होना चाहिए। लेकिन ऐसा वह अन्य धर्मों को हानि पहुँचा कर नही कर सकता, क्योंकि सभी धर्मों को समान रूप से पुष्पित एवं पल्लवित होने का अवसर मिलना ही चाहिए।

उपर्युक्त सभी मतों पर विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि सहिष्णुता के वास्तविक आधार दो है

पहला, सापेक्षित सत्य की अवधारणा जहाँ पर यह माना जाता है कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप अनन्त धर्मात्मकम् है अर्थात एक ही वस्तु के अनेक पक्ष हैं। कोई भी व्यक्ति उस वस्तु के सम्पूर्ण पक्षों को नही जान सकता। जो जितना अनुभव कर पाता है वह उतना ही अभिव्यक्त करता है। लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि उसकी यह अभिव्यक्ति पूर्ण न होकर आंशिक एवं सापेक्ष ही होती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति इस कटु सत्य को स्वीकार कर ले, तो सहज रूप में उसके अन्तर्मन में सहिष्णुता का भाव उत्पन्न होगा एवं वह राग द्वेष से ऊपर उठकर सभी धर्मों के प्रति समभाव रख सकेगा। इसे ऋग्वेद की भाषा में "एकम् सद् विप्रा बहुधा बदन्ति"। एवं जैनियों की भाषा में 'अनेकान्तवाद' कहा जा सकता है।

दूसरा, सहिष्णुता का वास्तविक आधार 'आत्मसाक्षात्कार' है। जब व्यक्ति इस अवस्था का अनुभव करता है, तब वह अहंकार एवं आसक्ति के ऊपर उठ जाता है, जिससे वह स्वार्थ जनित तुच्छ अवधारणाओं को प्रशमित करते हुए प्रत्येक सत्ता में एकरूपता की अनुभूति करता हैं। ऐसी अवस्था में स्वभावतः उसके अन्तर्मन में अन्य धर्मों के प्रति करूणा का भाव जागरूक होता है इस प्रकार सहिष्णुता, आत्मसाक्षात्कार के अभाव में असम्भव है। इसके साक्षात् उदाहरण भगवान बुद्ध, कबीर, नानक, दादू, रहीम, सूर, तुलसी, रैदास, नामदेव प्रभृति संत है, जो आत्मानुभूति के पश्चात् लोक कल्याणार्थ अपने समग्र जीवन को उत्सर्ग कर दिये।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सहिष्णुता की आवधारणा कोई सैद्धान्तिक अवधारणा नहीं है, बल्कि यह एक व्यावहारिक आवश्यता है, जो बिना अनुभूति के एकमात्र कपोलकल्पित है। जिस प्रकार फोटो की तैयारी करना, फोटो खींचना नहीं है। उसी प्रकार सहिष्णुता की चर्चा करना, सहिष्णुता स्थापित करना नहीं है। इसके लिए तत्व साक्षात्कार आवश्यक है धार्मिक उन्माद फैलाने वाले कट्टरपंथी जानते ही नही कि धर्म का मूल स्वरूप क्या है? वे तो धर्म के ठेकेदारों की भांति क्षुद्र भावनाओं से अनुप्रेरित होकर लोगों के समक्ष अपने को धार्मिक होने का स्वांग रचते है जिससे उनकी सामाजिक मर्यादा बनी रहे। ऐसे व्यक्ति अपना परमार्थ तो बिगाड़ते ही है, साथ ही साथ सम्पूर्ण समाज को भी भ्रष्ट एवं पतित करते है। सच्चा धार्मिक व्यक्ति वह है, जो हमेसा ईश्वर से भय खाता रहता है। वह जानता है कि यदि उसने कुछ ऐसा किया जो ईश्वरीय इच्छानुरूप नहीं है, तो उसे अवश्य ही ईश्वर का कोप भाजन बनना पड़ेगा। इसीलिये वह सभी से प्रेम करता है तथा आततताइयों एवं दुराचारियों के लिये भी ईश्वर से प्रार्थना करता रहता है कि 'हे प्रभु यह नही जानते कि सही क्या हैं? अतः इन्हें क्षमा करना। उल्लेखनीय हैं कि जब यीशू को सूली पर चढ़ाया जा रहा था तब उसके शरीर में कील ठोंकी जा रही थी, उस समय वे ईश्वर से यही

प्रार्थना कर रहे थे। वास्तव में धर्म का वास्तविक स्वरूप यही है, जो उन्माद पर आधारित न होकर "शुद्ध एवं सात्विक प्रेम" पर आधारित है लेकिन यह अवस्था सहज नही हैं यह तो वह कह सकता है, जिसने सत्यता की अनुभूति कर ली है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सहिष्णुता का वास्तविक आधार "आत्मानुभूति" ही है।

सन्दर्भ

1. किनसले डेविस, "ह्यूमैन सोसायटी" पृष्ठ-509
2. महाभारत, शान्तिपर्व, 294/291।
3. उपरोक्त, 108/11।
4. तैतरीय आरण्यक, 10/63/1।
5. महर्षि कणाद, वैशेषिक सूत्र, 1/1/2।
6. गीता, 2/47 ।
7. मनुस्मृति, 6/91 ।
8. डॉ. राधाकृष्णनन "धर्म और समाज" , पृष्ठ - 123 ।
9. प्रो. हॉवेल, आर्यन रूल इन इण्डिया, पृष्ठ - 170 ।
10. डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे, "धर्मशास्त्र का इतिहास" भाग-1पृष्ठ - 101
11. आचार्य बलदेव उपाध्याय, "भरतीय धर्म दर्शन", पृष्ठ - 131
12. मॉरिस क्रैम्स्टन, "टॉलरेशन" इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन, खण्ड 8 पृष्ठ - 144।
13. प्रो. वेद प्रकाश वर्मा, "धर्म दर्शन की मूल समस्याएँ" ,पृष्ठ - 144।
14. उपरोक्त, पृष्ठ - 518।

15. उपरोक्त, पृष्ठ - 511।
16. उपरोक्त, पृष्ठ - 518।
17. प्रो. हरिशंकर उपाध्याय, "धार्मिक सहिष्णुता के तात्विक आधार" संदर्शन, अंक 27-28,पृष्ठ-22
18. उपरोक्त, पृष्ठ-19।
19. ऋग्वेद, 1,164।

प्रो0 ऋषिकान्त पाण्डेय

दर्शनशास्त्र विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

भारतीय धर्म की समन्वय-दृष्टि

डॉ0 प्रभुलाल गोस्वामी

भारतीय सिद्धान्त समन्वयात्मक होने के कारण ही अन्य धर्म और सम्प्रदाय से भिन्न है। भारत की यह विशेषता रही है कि अपने शत्रुओं के भी अच्छे तत्वों को ग्रहण कर अपनी परम्परा में आत्मसात् करता है। पारसी यूनानियों के आक्रमण के साथ अनेक संस्कृतियों यहाँ आयीं किन्तु यहाँ की संस्कृति मन्दाकिनी ने आत्मसात् कर उन्हें पवित्र कर दिया। यह सत्य है कि बाह्य तत्त्वों को आत्मसात् करने में वाह्य संस्कृति की स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो गयी और इस विशाल चिन्तन-धारा में खो गयी, किन्तु इसमें भी परिवर्तन हुए पर इसमें आए हुए परिवर्तन मधुर मिश्रण के समान थे, विरोध के नहीं। यहाँ के अनेकत्व में अनुस्यूत एकता सभी विरोधों को समाप्त कर अवस्थित है। यहाँ की चिन्तनधारा में यह आक्षेप लगाया जाता है कि बहुधा प्रत्यक्ष सत्य की ओर से मुँह मोड़ा गया है। प्रकृत में इतना ही कहना उचित होगा कि आक्षेप-कर्ताओं ने केवल ऊपरी स्तर का ही अवलोकन किया है अन्तस्तल में प्रवेश कर सुधा-मधुरी में अवगाहन की चेष्टा नहीं की। यहाँ अनेक का निषेध नहीं, अपितु एक का अन्वेषण है। यही यहाँ के समन्वयवाद का रहस्य है। ब्रैडले ने अपने। Appearance & reality में कहा है कि परमतत्त्व के भीतर विरोधी तत्व आपस के विरोध में परम तत्त्व की एकात्मा में विश्रृंखला उत्पन्न नहीं करते वरन् सामंजस्यपूर्ण शरीर में विरोध को खोलकर अंग के रूप में अंगी की अक्षुण्णता ही बनाये रखते हैं। भारतीय संस्कृति की सामंञ्जस्यपूर्ण सत्ता में विरोधी आदर्श किसी प्रकार की विश्रृंखलता को उत्पन्न नहीं करते हैं। बल्कि अपने विरोध को यथास्थान रखते हुए इसके वास्तविक रूप के स्थापन में सहायक होते हैं। यही कारण है कि गतिशीलता के अभाव का आक्षेप भी इस

भारतीय दार्शनिक परम्परा पर सर्वथा व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि समन्वय गतिशीलता के बिना सम्भव ही नहीं है।

भारतीय चिन्तन-धारा में धर्म-सर्वस्व कोई अन्ध विश्वास नहीं है यह मनोविज्ञान की खान से निकाला हुआ और तर्क के हाथों से तराशा हुआ एक रत्न है। भारत धर्मप्रमाण देश है, किन्तु धर्म की श्रेष्ठता का कारण लिखते हुये वेद में कहा गया है कि- धर्म सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा है, धर्म में ही सब कुछ, प्रतिष्ठित है। यहाँ का धर्म अपौरुषेय है। किसी पुरुष विशेष ने इसका निर्माण नहीं किया है। यही इसके सनातनत्व, उदात्तत्व, उदारत्व का कारण है।

धर्म का पर्यवास आचार शिक्षा में है, आचार धर्म का मुख्य अंग है, "आचारः परमो धर्मः" यही उपसंहार है। यहाँ की पूर्णता भगवत्ता, सर्वज्ञता, तृप्ति और अनावसक्ति की मूल भित्ति पर अवस्थित हैं। व्यष्टि से समष्टि का हित, भेद में अभेद दर्शन, सभी प्राणियों में आत्म-दर्शन में स्व की विश्रान्ति है। एक आत्मा में अशेष चराचर का साक्षात्कार हैं, "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" (गीता 6/29) यही श्रीकृष्ण का उद्घोष है अतः यहाँ की परमानन्द प्राप्ति महानकरुणा के रूप में प्रकट होती है। यहाँ आनदमयी योगमाया भी आर्द्रचित्त की भावना से ओत-प्रोत हैं- सर्वोकारकरणाय-सदार्द्र चित्ता है। एक ओर अशेष आनन्द, दूसरी और अशेष करुणा- यह भारतीय धर्म है। धर्म तथा दर्शन मानव-समाज के जीवन स्तर की उन्नत कर अशुभहीन प्रवृत्तियों को हटाकर उदार, उन्नत तथा विशाल विचारों को जन्म देकर सदाचार में प्रवृत्त करता है। मानवता के समस्त गुणों का उदय करा कर उसे मानव बनाना भारतीय धर्म है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के भेद से ज्ञान की विमल चिन्तन-धाराएं द्विधा विभक्त प्रतीत होती हैं, किन्तु भारतीय परम्परा में निवृत्ति मार्ग या उदासीन मार्ग सम्भव ही नहीं है। व्यष्टि और समष्टि की उपासना आसक्ति और आनसक्ति मूलक ही इस भेद का मूलाधार है। सम्पूर्ण विश्व को एक विराट्

के रूप में अवलोकन करने से विश्व के प्रति ममत्व की भावना परिव्याप्त हो जाती है और मानव मात्र अपने बन्धुत्व की रेखा के अन्तर्भुक्त रहता है, फलतः मात्र पति, पत्नी आदि के हित की ही कामना उसमें नहीं रह जाती है- इसी निवृत्तिमार्ग या उदासीन मार्ग के रूप में कहा जाता है। अन्यथा शंकर, वल्लभाचार्य, चैतन्य देव, रामानुजाचार्य, कबीर आदि भगवान् के साक्षात्कार के सर्वथा परितृप्त हो, विश्व के प्राणियों चराचर के कल्याण के लिये अपने शेष जीवन को व्यतीत करने के लिए बाध्य नहीं होते। दूसरे शब्दों में अन्तः सलिला सरस्वती सकल जनहिताय, सकल जनसुखाय एक निष्काम क्रीडास्थली के रूप में चराचर विश्व का आविर्भाव कर देती हैं।

इसमें मतभेद नहीं कि वैदिक साहित्य का प्रधान उपजीव्य देववाद हैं। यजन और उपासना ये दो इसके अंश हैं। यजन में क्रिया की प्रधानता रहती है और उपासना में भाव की, क्रिया चेतना का बाह्यवृत है और उपासना अन्तरवृत्त है। क्रिया में भाव की ही अभिव्यक्ति है। भाव ही धारक और पोषक है। ध्यान, दीधिति, चित्तता एक ही पर्याय हैं, इनकी परिपुष्टि प्रपत्ति से परिलक्षित होती है। ध्यान देवता का प्राण है। ध्याता और ध्येय में ध्यान सेतु हैं, निदिध्यासन या ध्यान-तन्मयता के फलस्वरूप अखण्ड विश्व के साथ तादात्म्य या अहं मम का सम्बन्ध होता है।

याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मोपासना का उपदेश दिया है। भारतीय चिन्तन धारा का सार, जिसमें भारतीय जनता का प्रवाह-आशा, आकाङक्षा पर्यवसान लेती है, वह मैत्रेयी को दिया हुआ उपदेश ही है- आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यों निदिध्यासितव्य इति, विश्लेषण से साक्षात्कार के लिए निदिध्यासन अपरिहार्य है। आनन्दकन्द भगवान कृष्ण देवाधिदेव का निर्वचन द्विशब्द से किया गया है। दीपन, द्योपन, दान अर्थात् किसी भी रूप में तेजस्वरूप तेज का आकार नहीं होता है, वह उपाधि के आधार पर आकार ग्रहण करता है। बाह्य तेज का प्रतीक आदित्य है और अन्तर तेज का प्रतीक ज्ञान या

प्रज्ञा है। शोध कहें ज्ञान कहें, प्रज्ञा, चित्त, विवेक संवित् सभी शब्द अभिन्न है, देवता की उत्पत्ति अदिति से है अदिति एक अखण्ड, सार्वभौम अर्थ का सूचक है, अतः यह अनन्त असीम व्योम चेतना है, दक्ष प्रज्ञा है। देवता के किसी विभूति की उपासना की जाये. अन्त में ज्योतिपुञ्च में अर्थात् आदित्य में व्याप्त होता है। क्योंकि अदिति से उत्पन्न होने के कारण सभी देव आदित्य है। अतः देवोपासना व आर्य भावना की दृष्टि से पर्यवसान परमज्योति की सायुज्यता में होता है। अदिति अखण्डिता, अबन्धना, आद्याशक्ति सोलह कलाओं से परिपूर्ण है। देवकी में भी देव है और वासुदेव में वसु और देव है, देवता की ही साधारण संज्ञा वसु है। वसु का अर्थ दीपन या ज्योतिर्मय होता है। इसी शब्द से वासर, विवस्वत् या साइन है, उषा और वसु एक ही मूल से बने हैं- वसुदेव और अदिति इन दो ज्योतियों का मानस पुत्र वासुदेव है। अतिशय ज्योति वसिष्ठ है।

अदितिद्यौ रदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः विश्वेदेवा अदितिर्पञ्जना अदितिर्जातम दतिर्जनित्वम्।

अतः भक्ति के द्वारा अन्तःज्योति का अभिन्न रूप से साक्षात्कार करना है।

आदिकाव्य में काम ही विषय की आसक्ति के कारण भोग के रूप में उत्पन्न है उसकी स्पष्ट शब्दों में निन्दा की गई है। चार वर्गों में काम का तृतीय स्थान है, किन्तु यह अग्रज धर्म की मूलधरा पर प्रतिष्ठिक है, जो धर्म सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा है। धर्म की भूमि पर प्रतिष्ठित अर्थ और काम सदा मोक्ष का साधन होता है, किन्तु अग्रज धर्म के अपमान से अर्थ और काम की सेवा करने पर भी वे अपने छोटे भाई मोक्ष की भूमि पर जाने का अवसर नही प्रदान करते है। फलतः अशुभ मार्ग से बहती हुई धारा जीवन की विनाश लीला साधन बन जाती है। अतः भारतीय संस्कृति के परिवेश में क्रियाएँ निष्काम ही प्रशस्त हैं। यह धर्म की विश्व-प्रतिष्ठा का फल है।

धर्म भारतीयों के वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित होता है। धर्म के लिए हिन्दू जाति ने महान् मूल्य दिया है और अभी दे रही है। धर्म का परिपालन किसी उद्देश्य से प्रणोदित होकर अथवा व्यवहारिक या राजनीतिक क्षेत्र में लाभ उठाने के लिए लिये नहीं करते हैं। इसका मूल्य इतना अधिक रहा है कि व्यवहार-क्षेत्र में विभिन्न धर्मावलम्बियों के द्वारा प्रसारित होकर हिन्दू जाति कभी-कभी सर्वस्वान्त होकर भी इसके पालन से बिन्दुमात्र भी च्युत नहीं हुई है। धर्म-पालन में हिन्दू जाति व्यवहारिक लाभलाभ की चिन्ता का सर्वथा विसर्जन कर देती है।

आपात दृष्टि से ऐसा होता है कि धर्म को कोई भी पसन्द नहीं करता है। किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर ऐसा ज्ञात होता है कि धर्म के प्रति अतिशय स्पृहा है। कोई भी अधर्मात्मा पुत्र नहीं चाहता है। अपने अधार्मिक पुत्र अर्थात् दुराचार-रत पुत्र के प्रति सभी को घृणा रहती है। पुत्र चाहता है पिता धार्मिक रहे। पति धार्मिक पत्नी को चाहता है, पत्नी धार्मिक पत्नी को चाहता है, पत्नी धार्मिक पति को चाहती है, पुरुष धार्मिक मित्र चाहता है। इतना ही नहीं एक दुकानदार धार्मिक ग्राहक एवं ग्राहक एक धार्मिक दुकानदार को चाहता है। इस समय अन्य परम्परा के प्रभाव से बाह्योन्मुखी प्रकृति होने के कारण हीन वासनाओं की पूर्ति की अभिलाषा से मनुष्य अपने जैसे ही व्यक्ति को पसन्द करता है।

भारतीय धर्म का प्रमुख वैशिट्ष्य विश्व-बन्धुत्व की भावना में सन्निहित है। असीम समष्टि के कल्याण की भावना का इसमें संचरण है, मानवमात्र के कल्याण की भावना सन्निहित है।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे, मित्रम्य चक्षुषा समीक्षामहे। (यजु० 36/18) यजुर्वेद के इस मन्त्र से प्राणिमात्र के प्रति परस्पर प्रेम, मैत्री एवं साहाय्य की भावना पद-पद पर अभिव्यक्त है।

ऋग्वेद में मानव के कर्तव्य का निर्देश करते हुए कहा गया कि केवल अपने स्वार्थ की ही चिन्ता नहीं करनी चाहिए। मानवता दूसरे की रक्षा और सहायता में सन्निहित है- पुमान् पुमासं परिपातु विश्वतः। विश्व के सभी प्राणियों के कल्याण की भावना से ही बलि वैश्वदेव को आवश्यक अंग माना गया हैं। इसके द्वारा विश्व के सभी प्राणियों को तृप्ति प्रदान करने में आत्म-तृप्ति की भावना व्यक्त होती है।

देवा मनुष्याः पशवो सिद्धाश्च यक्षोरग-देवसंघाः।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम्।।
पिपीलिका कीटपतंगकाश्च बुभुक्षिताः कर्म-निबन्ध बद्धाः।
तृप्त्यर्थमत्रं हि मया प्रदत्तं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु।।

तर्पण में भी यही भावना धार्मिक रूप में उपलब्ध है- येऽबान्धवाः बान्धवाश्च के येऽन्यजन्मनि बान्धवाः इसमें सभी के कल्याण की भावना धर्म के रूप में व्यक्त है।

यह स्पष्ट है कि यहाँ का धर्म सार्वभौम है। इसमें ऐहिक सम्पद् के प्रति उपेक्षा है। सम्पूर्ण विश्व को ईश्वर का स्वरूप समझ कर सभी लोगों की हितमूलक प्रवृत्ति धार्मिक वृत्ति है। अतः समन्वय की भूमि पर राग-द्वेष रहित जीवन-यापन भारतीयता है।

आचार्य एवं अध्यक्ष दर्शन-विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

गीता की संवाद-योजना

श्री इन्द्रचन्द्र नारंग

कौरवों और पांडवों का युद्ध आरम्भ होने पर विद्वान गावल्गणि संजय युद्ध देखने कुरूक्षेत्र गये। दसवें दिन हस्तिनापुर लौट कर उन्होंने धृतराष्ट्र से कहा-

संजयोऽहं महाराजा नमस्ते भरतर्षभ।
हतो भीष्मः शान्तनवों भरतानां पितामहः ।। 3
ककुदं सर्वयोधानां धाम सर्वधनुष्मताम्।
शरतल्पगतः सोऽद्य शेते कुरूपितामहः ।। 4
यस्य वीर्य समाश्रित्य द्यूतं पुत्रस्तवाकरीत्।
सशेते निहतो राजन् संख्ये भीष्मः शिखण्डिना।। 5
यः सर्वान् पृथिवीपालाम् समवेतान् महामृधे।
जिग्मयैकरथेनैव काशिपुर्या महारथः।। 6
जामदग्न्यं रणे रामं योऽयुध्यदमसंप्रभः।
न हतो जामदग्न्येन स हतोऽद्य शिखडिना।। 7
महेन्द्रसदृशः शौर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव।
समुद्र इव गाम्भीर्य सहिष्णुत्वे धरासमः।। 8
शरद्रंष्टो धनुर्वक्तः खड्गजिहवो दुरासदः।
नरसिंहः पिता तेऽद्य पांचाल्येन निपातितः।। 9
पांडवानां महासैन्यं यं दृष्टोद्यतमाहवे।
प्रावेपत भयोद्विग्नं सिंह दृष्टैव गोगणः।। 10
परिरक्ष्य स सेनां ते दशरात्रमनी कहा।
जगामास्तमिवादित्यः कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।। 11
यः स शकइवाक्षोभ्यो वर्षन् बाणान् सहस्त्रशः।
जघानयुधि योधानामर्बुदं दशभिदिनैः।। 12

स शेते निहतो भूमौ वातभग्न इवद्रुमः।
तव दुर्मन्त्रिते राजन् यथा नार्हः स भारत।। 13

(महाभारत, भीष्म पर्व, अध्याय 13, श्लोक 3-13)

अर्थात्- भरतश्रेष्ठ महाराजा, मैं संजय हूँ. आपको नमस्कार है। भरवंशियों के पितामह शान्तनु पुत्र भीष्म मारे गये। जो सब योद्धाओं के शिरोमणि और सब धनुर्धरो के आश्रय थे, वे ही कुरूकुल के पितामह आज शरशय्या पर सो रहे है।4। राजन्, जिनके वीर्य पर भरोसा करके आपके पुत्र ने जुआ खेला था, वे भीष्म शिखंडी द्वारा मारे जाकर रणभूमि में सो रहे हैं।5। जिन महारथी ने काशीपुरी में समवेत सब राजाओं को अकेले ही महायुद्ध में जीता था, जिन्होंने राम जामदग्न्य के साथ धीरता से युद्ध किया था और जिन्हें राम न मार सके, उन्हें आज शिखंडी ने मार दिया।6-7। जो शौर्य में देवराज के समान, स्थिरता में हिमालय के समान, गम्भीरता में समुद्र के समान और सहनशीलता में पृथ्वी के समान थे. बाण ही जिनकी दाढ़े थीं, धनुष मुख था, तलवार जिनकी जिह्वा थी, जिनके पास तक पहुँचना कठिन था, ऐसे आपके नरसिंह पिता को शिखंडी ने मार गिराया।8-9। जैसे गौओं का गिरोह सिंह को देखकर भयोद्विग्न हो जाता है, ऐसे ही जिन्हें युद्धाद्यत देखकर पांडव सेना काँपने लगती थी, शत्रु सेना का नाश करने वाले वे भीष्म दस दिन आपकी सेना की रक्षा करके अत्यन्त दुष्कर कर्म करके आज सूर्य के समान अस्त हो गयें।10. 11। जिन्होंने इंद्र के समान अचल रहकर हजारों वाणों की वर्षा करते हुए दस दिनों में दस करोड़ योद्धाओं का वध किया था, वे ही आज आँधी से उखड़े वृक्ष की भाँति मारे जा कर युद्धभूमि में सो रहे हैं। राजन्, यह आपकी कुमंत्रणा के कारणय अन्यथा वे इस दुर्दशा के योग्य न थे। 12.13।

अगले (चैदहवें) अध्याय के 80 श्लोकों में धृतराष्ट्र विलाप करते और भीष्म के दस दिनों के युद्ध और उनके मारे जाने का वृत्तान्त विस्तार में जानने के लिए संजय से प्रश्न करते हैं। उन 80 श्लोकों में कुछ निम्नलिखित हैं-

कथं कुरूणामषभो हतो भीष्मः शिखंडिना।
कथं रथात् स न्यापतत् पिता में वासवोपमः।। 1
कथमाचक्ष्व में योधा हीना भीष्मेण संजय।
बलिना देवकल्पेन गुर्वर्थे ब्रह्मचारिणा।। 2
अर्ति परामाविशति मन शंससि मे हतम्।
कुरूणाभृषमं वीरमकम्पं पुरुषर्षभम्।। 4
के तं यान्तमनु प्राप्ता के चाप्यासन् पुरोगमाः।
केऽतिष्ठन् के न्यवर्तन्त केऽन्वर्तन्त संजय।। 5
पाडवानां महत्सैन्यं यं दृष्ट्वोद्यतमाहवे।
कालाग्निमिव दुर्धर्ष समचेष्टत नित्यशः। 13
परिकृष्ण स सेनां तु दशरात्रमनीकहा।
जगामास्तविमादित्यः कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।। 14
यः स शक इवाक्ष्य्यं वर्ष शरमयंक्षिपन्।
जधान युधि योधानामर्बुदं दशभिर्दिनैः।। 15
स शेते निहतो भूमौ वातभग्न इव द्रुमः।
मम दुर्मन्त्रितेनाजौ यथा नार्हति भारतः।। 16
कथं भीष्मेण संग्रामं प्राकुर्वन् पांडुनन्दनाः।
कथं च नाजयद् भीष्मो द्रोणे जीवति संजय।।18।।
कृपे सन्निहिते तत्र भरद्वाजत्मजे तथा।
भीष्मः प्रहरतां श्रेष्ठः कथं स निधनं गतः।। 19
कथं चातिरथस्तेन पांचाल्येन शिखंडिना।
भीष्मो विनिहतो युद्धे देवरपि दुरासदः।। 20
यः स्पर्धते रणे नित्यं जागदग्न्यं महाबलम्।
अजितं जामदग्न्येन शकतुल्यपराकमम्।। 21
तं हतं समरे भीष्मं महारथकुलोदितम्।

संजयाचक्ष्व में वीरं येन शर्म न विन्घहे।। 22
यच्छिखंडिमुखाः सर्वे पांडवा भीष्ममभ्ययुः।
कच्चित् ते कुरवःसर्वे नाजहुः संजयाच्चुतम्।। 24
अश्मसारमयं नूनं हृदयं सुदृढंमम।
यच्छुत्वा पुरुषव्याघ्रं हतं भीष्मं न दीर्यते।। 25
भीष्मोयदकरोत् कर्म समरे संजयारिहा।
दुयोधनहितर्थाय के तस्यास्य पुरोऽभवन्।।33
केऽरक्षन् दक्षिणं चकं भीष्मस्यामिततेजसः।
पृष्ठतः के परान् वीरान य पसिधन् यतव्रताः।।34
के पुरस्तादवर्तन्त रक्षन्तो भीष्ममन्तिके।
केऽरक्षन्नुत्तरं चक वीरा वीरस्य युध्यतः।। 35
वामे चके वर्तमानाः केऽधनन् संजय सृंजयान्।
अग्रतोग्र्यमनीकेषु केऽभ्यरक्षन दुरासद्म।। 36
यस्य वीर्य समाश्रित्य मम पुत्रोबृहद्बलः।
न पांडवानगणयत् कथं स निहतः परैः ।। 41
धर्मादधर्मो बलवान् संप्राप्त इति में मतिः।
यत्रवृद्धंगरुं हत्वा राज्यमिच्छन्ति पांडवाः।। 46
असकृत् क्षत्रियव्रातः संख्ये येन विनिर्जिताः।
जामदग्न्येन वीरेण परवीरनिपातिना।। 49
न हतो यो महाबुद्धिः सः हतोऽद्य शिखंडिना।
तस्मान्नू नं महावीर्याद् भार्गवाद् युद्धदुर्मदात्।। 50
तेजोवीर्यबलैर्भूयाञ्छखंडी द्रुपदात्मजः।
यः शूरं कृतिनं युद्धे सर्वशास्त्रविशारदम्।। 51
परमास्त्रविदं वीरं जघान भरतर्षभम्।
के वीरास्तममित्रघ्नमन्वयुः शस्त्रसंसदि।। 52

शंस में तद् तथा चासीद् युद्ध भीष्मस्य पाडवैः।
योषेव हतवीरा में सेना पुत्रस्य संजय।। 53
कथं शान्तनवं तातं पांडुपुत्रा न्यवारयन्।
कथं युक्तान्यनीकानि कथं युद्धं महात्मभिः ।।68
कथं व निहतो भीष्मः पिता संजय में परैः।
दृष्ट्वाविनिहतं भीष्मे मन्ये शोचन्ति पुत्रकाः।
श्रोस्यामि तानि दुःखानि दुर्योधनकृतान्यहम्।।76
तस्मान्मे सर्वमाचक्ष्च यद्वृत्तं तत्र संजय।
यद्वृत्तं तत्र संग्रामे मन्दस्याबुद्धिसंभवम्।।
अयनीत सुनीतं यत् तन्मयाचक्ष्व संजय।
यत् कृतं तत्र संग्रामे भीष्मेण जयमिच्छता।। 78
तेजोयुक्तं कृतास्त्रेण शंस तच्चाप्यशेषतः।
यथा तदभवद् युद्धं कुरूपांडवसेनयोः।। 79
अमेण येन अस्मिंश्च काले यच्च यथाभवत्।। 80

अर्थात- कुरुकुल के श्रेष्ठ इन्द्र के समान (पराक्रमी) मेरे पिता भीष्म शिखंडी द्वारा कैसे मारे गये. और रथ से कैसे गिरे ? (1) यह बताओ कि पिता के लिए आजीवन ब्रह्मचारी और देवताओं के समान बली भीष्म से रहित होने पर मेरे योद्धाओं की क्या गति हुई? कभी न डिगने वाले कुरूकुल शिरोमणि नरोत्तम भीष्म को तुम मरा हुआ बताते हो- यह सुनकर मेरा मन बड़ा दुःखी हो गया है।[4] उनके युद्धार्थ प्रस्थान करने पर कौन उनके पीछे गये थे, कौन उनके आगे थे, कौन उनके साथ युद्ध में डटे रहे, कौन भाग गये और किन लोगों ने उनका अनुसरण किया।[5] कालाग्नि के समान दुर्धुर्ष जिनको युद्धोद्यत देखकर पांडवों की विशाल सेना काँपने लगती थी, शत्रु सेना का संहार करने वाले वे भीष्म दस दिन तक हमारी सेना का सेनापतित्व करके और दुष्कर कर्म करके आदित्य के समान अस्त हो गये। 13.14। जिन्होंने इंद्र के समान अक्षय बाणों की

वर्षा करके दस दिनों में शत्रुओं की दस करोड़ सेना का संहार किया, वे ही भरतवंशी भीष्म मेरी कुमंत्रणा से आज आंधी से उखड़े वृक्ष की भाँति मारे जा कर रणभूमि में सो रहे हैं, वे इस दुर्दशा के योग्य न थे। 15.16 पांडवों ने कैसे भीष्म के साथ संग्राम किया. द्रोण के जीवित रहते भीष्म विजयी क्यों न हुए, और कृप और द्रोण के साथ रहते हुए भी योद्धाओं में श्रेष्ठ भीष्म मारे कैसे गये। 18.19। देवताओं के लिए भी दुर्जय अतिरथी भीष्म को पांचालराजकुमार शिखंडी ने युद्ध में कैसे मार लिया? 20 जो युद्धभूमि में महाबली जामदग्न्य को भी चुनौती देते थे, जो इंद्रतुल्य पराक्रमी भी थे, जामदग्न्य भी जिन्हें न जीत सके थे, महारथियों के कुल में उत्पन्न वे भीष्म युद्ध में कैसे मारे गये, संजय, यह तुम मुझे बताओ, मुझे शान्ति नहीं मिल रही हैं। 21.22 जब शिखंडी को आगे करके पांडवों ने भीष्म पर आक्रमण किया तब कौरव कहीं उन्हें छोड़ तो न गये थे? 24 मेरा हृदय अवश्य ही लोहे के समान कठोर है, जो पुरुषव्याघ्र भीष्म को मरा हुआ सुनकर भी विदीर्ण नहीं होता।25 शुद्ध सुदन भीष्म ने दुर्योधन के लिए युद्ध में जो महत्कर्म किया, उस समय कौन उनके आगे थे, अमिततेजस्वी भीष्म के दक्षिण चक्र की रक्षा किन वीरों ने की और दृढ़तापूर्वक व्रत का पालन करते किन वीरों ने उनके पीछे रह कर शत्रु-पक्ष के वीरों को रोका था? 33.34। कौन-कौन वीर पास से भीष्म की रक्षा करते हुए उनके आगे थे और कौन-कौन वाम चक्र की रक्षा कर रहे थे? 35 संजय, भीष्म के रथ के वाम चक्र की रक्षा करते हुए किन वीरो ने सृंजय-वंशियों का विनाश किया था, और किन वीरों ने आगे रहकर सेनाग्रणी दुर्जय वीर भीष्म की रक्षा की थी? ।36। जिनके वीर्य के भरोसे बड़ी सेना वाला मेरा पुत्र पांडवों को कुछ नहीं गिनता था, वे कैसे शत्रुओं द्वारा मारे गये? ।41। पांडव अपने वृद्ध गुरूजन को मार कर राज्य लेना चाहते हैं, इससे आज मेरी समझ में आया, कि धर्म से अधर्म बलवान् होता है। ।46। शत्रु वीरों का नाश करने वाले वीर जामदग्न्य ने अनेक बार युद्ध में समस्त क्षत्रियों को जीता था; वे जामदग्न्य भी जिन महाबुद्धिमान् भीष्म को न मार सके उन्हें

आज शिखंडी ने मार गिराया। इससे द्रपद-पुत्र शिखंडी, जिसने सर्वशास्त्रविशारद परमास्त्रविद् शूर कृती वीर भरतकुलभूषण भीष्म को मार गिराया, निश्चय ही तेज वीर्य और पराक्रम में युद्धदुर्मद महाबलशाली भार्गव से बढ़कर है। उस समय युद्ध में शत्रुहन्ता भीष्म के साथ कौन-कौन वीर थे? 49.52। संजय मुझे बताओं भीष्म का पांडवों से युद्ध कैसे हुआ? उन वीर सेनापति के मारे जाने पर मेरे पुत्र की सेना विधवा के समान हो गई है। 31। तात भीष्म को पांडवों ने कैसे रोका? उन महात्माओं ने सेनाएँ कैसे संघटित की और कैसे युद्ध किया? ।68। संजय शत्रुओं ने मेरे पिता भीष्म का वध कैसे किया?.....69 मुझे विश्वास है कि भीष्म को मरा हुआ देख कर मेरे पुत्र शोक में डूब गये होंगे। दुर्योधन द्वारा प्रकट किये उन दुःखों को मैं सुनूँगा। 76। इसलिए संजय, तुम मुझे वहाँ का सार वृत्तान्त बताओ। मूर्ख (दुर्योधन) के अज्ञान से उस संग्राम में न्याय और अन्याय की जो-जो बातें हुई; विजय चाहते हुए कृतास्त्र भीष्म ने उस संग्राम में जो-जो तेजयुक्त कार्य किये और कौरवों और पांडवों की सेना का जिस समय जिस कम से जैसे युद्ध हुआ- वह सब तुम मुझे बताओ ।77.80।

संजय धृतराष्ट्र के प्रश्नों का उत्तर देने लगते हैं। पंद्रहवें अध्याय में उत्तर देना शुरू करने से पहले कहते है-

त्वद्युवतोऽयमनुपश्नो महाराज यथार्हसि।
न तु दुर्योधने दोषमिमाससक्तुमर्हसि ।। (6,15,1)

अर्थात्-महाराज आपने जो प्रश्न पूछे हैं, वे उचित और आपके योग्य है, परन्तु यह सारा दोष दुर्योधन के माथे नहीं मढ़ना चाहिये। इस अध्याय में आगे वे बताते हैं कैसे दुर्योधन ने दुःशासन को भीष्म की रक्षा की व्यवस्था करने का आदेश दिया। सोलहवें अध्याय में संजय कौरवों की सेना का वर्णन करते है। सत्रहवें अध्याय में कौरव सेना के व्यूह और वाहनों आदि का वर्णन है। अठारहवें अध्याय में कौरव-सेना के कोलाहल और भीष्म के रक्षकों का वर्णन है। उन्नीसवें अध्याय के आरम्भ में धृतराष्ट्र प्रश्न करते हैं।-

अक्षौहिण्यो दर्शका च व्यूढ़ा दृष्ट्वा युधिष्ठिरः।
कथमल्पेन सैन्येन प्रत्यव्यूहत पाडंव ।। 6, 19, 1
यो वेद मानुषं व्यूहं दैवं गान्धर्वमासुरम्।
कथं भीष्मं स कौन्तयेः प्रत्यव्यूहत संजय।। 6,19,2

अर्थात्- संजय, हमारी ग्यारह अक्षौहिणियों के व्यूह में खड़ा देखकर पांडु पुत्र युधिष्ठिर ने उसका मुकाबला करने के लिए अपनी थोड़ी सी सेना की व्यूह-रचना कैसे की? ।1। जो मनुष्यों देवताओं गंधर्वों और असुरों सब की व्यूह रचना को जानते थे, उन भीष्म के मुकाबले में युधिष्ठिर ने अपनी सेना की व्यूह-रचना कैसे की? ।2।

इसके उत्तर में संजय ने पांडवों की व्यूह-रचना का वर्णन कर बताएए कि पांडव सेना के व्यूह में भीम सबसे आगे थे। बीसवें अध्याय के आरंभ में धृतराष्ट्र फिर प्रश्न करते हैं।

सूर्योदये संजय के नु पूर्व
ययुत्सवों हृष्यमाणा इवासन्।
मामका वा भीष्मनेत्राः समीपे
पांडवा वा भीमनेत्रास्तदानीम्।।
केषां जघन्यौ सोमसूर्यौ सवायू
केषां सेनां श्वापदाश्चभषन्त।
केषां यूनां मुख्यवर्णा प्रसन्नः
सर्वस्येतद् ब्रहि तत्वं यथावत्।। (6, 20, 1.2)

अर्थात् संजय, सूर्योदय होने पर किस पक्ष के योद्धा अधिक हर्ष का अनुभव करते थे, भीष्म के नेतृत्व में मेरे सैनिक या भीम के नेतृत्व में पाडंव-सैनिक ।1। चन्द्रमा, सूर्य और वायु किनके प्रतिकूल थे, हिंसक जन्तु किनकी सेना की ओर गर्जते थे, किनकी सेना के युवकों की मुखकान्ति प्रसन्न थी।- यह सब तुम मुझे ठीक-ठीक बताओ?।।2।।

संजय ने बीसवें अध्याय में इन प्रश्नों का उत्तर दिया। इक्कीसवें अध्याय में कौरव-सेना को देख कर युधिष्ठिर के विषाद और अर्जुन के उन्हें आश्वासन देने का; बाईसवें अध्याय में पाडंव सेना के प्रस्थान का और तेईसवें अध्याय में अर्जुन द्वारा दुर्गा-स्तुति और वर-प्राप्ति का वर्णन किया। चैबीसवें अध्याय के आरंभ में धृतराष्ट्र पूछते हैं।

केषां प्रहृष्टास्तत्रागे योधा युध्यन्ति संजय।
उद्रग्रमनसः केवा केवा दीना विचेतसः।।
के पूर्व प्राहरंस्तत्र युद्धे हृदयकंपने।
मामकाः पांडवेया वा तन्मयाचक्ष्व संजय।।
कस्य सेनासमुदये गन्धमाल्यसमुद्रभवः।
वाचः प्रदशिक्षाश्चैव योधानामभिगर्जताम्।। (6,24,2-3)

अर्थात् -किस पक्ष के यौद्धा हर्षसहित पहले युद्ध में प्रवृत्त हुए? किनके मन में उत्साह भरा था और कौन दीन तथा दुविधा में थें? हृदय को कँपा देने वाले उस संग्राम में किन्होंने पहले प्रहार किया, मेरे पुत्रों ने या पांडवों ने-यह मुझे बताओ। किस सेना में सुगन्धित पुष्पमालाओं का समुद्भव हुआ और गर्जते हुए योद्धाओं की वाणी उत्साहपूर्ण थी? इसके उत्तर में संजय ने बताया। दोनों ओर के योद्धा एक से प्रसन्न थे.....आदि। पच्चीसवें अध्याय से गीता प्रारंभ होती है। धृतराष्ट्र पूछते हैं-

धर्मक्षेत्र कुरूक्षेत्र समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाडंवाश्चैव किमकुर्वत संजय।।
महाभारत, 6, 25, 1। गीता 1,1)

अर्थात्- संजय, कुरुक्षेत्र की पुण्यभूमि में एकत्र हुए युद्धच्छुक मेरे और पांडु के पुत्रों ने क्या किया?
संजय उत्तर देते हैं-

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।

आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्।। 2
पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपद पुत्रेण तव शिष्येण धीमता।। 3
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराश्व द्रुपश्च महारथः।। 4
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैव्यश्च नरपुंगवः।। 5
युधामन्युश्च विकान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सोनभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथा।।
अस्माकं तु विशिष्ट ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थ तान् ब्रवीमि ते।।7
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिजय।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदान्तिस्तथैव च ।। 8
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्र प्रहरणाः सर्वे युद्ध विशारदाः। 9
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तत्विमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्। 10
अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्म मेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एवहि।। 11
तस्य संजनयन् हर्ष कुरूवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योश्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ।। 12
ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्य हन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।। 13
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितो।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौं शंखौ प्रदध्मतुः।। 14

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंख भीमकर्मा वृकोदरः।। 15

अनन्तविजयं राजा कुन्ती पुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोष मणिपुष्पकौ।। 16
काश्यश्च परमेश्वासः शिखंडी च महारथः।
धृष्टपद्यम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।। 17
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान् दध्मुः पृथक् पृथक् ।। 18
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।। 19
अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरूद्यम्य पांडवः ।। 20
हृषीकेशं तदावाक्यमिदमाहमहीपते

अर्जुन उवाच

सेनयोरूभयोमंध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।। 21
यावदेतान्निरीक्षोहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे।। 22
योत्स्यमानानवेक्षऽहं यं एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धर्युद्ध प्रियचिकीर्षवः ।। 23

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशों गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोमध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।। 24
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषा च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्चैतान् समवेतान् कुरूनिति।। 25

तत्रापश्चत् स्थितान् पार्थ पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान् मातुलान् भातृन पुत्रान्पौत्रान् सुर्खीस्तथा।। 26
श्वशुरान् सुहृदांश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान् समीक्ष्य सकौन्तेय सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।। 27
कृपया परयादिष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण प्रयुत्सुं समुपस्थितम्।। 28
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे में लोमहर्षश्च जायते।। 29

आगे 46वें श्लोक तक अर्जुन की विषादोक्ति है। अन्तिम 47 वां श्लोक संजय कहते हैं-

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्न मानसः।। 47

महाभारत भीष्म पर्व के 26वें (गीता के दूसरे) अध्याय के आरंभ में संजय पहला श्लोक कहते है-

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।। 1

यहाँ से कृष्ण-अर्जुन संवाद आरंभ हैए जो गीता के अंत तक चलता हैए केवल इस दूसरे अध्याय नौवाँ दसवाँ श्लोक संजय ने कहे हैं-

एवमुक्त्वा ऋषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योस्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णों वभूव है।
तमुवाच ऋषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरूभ्योर्मध्ये विषीदन्तमिदंवचः।।

फिर 11वें अध्याय में जब कृष्ण कहते है-

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैन स्वचक्षुषा।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्च में योगमैश्वरम्।। 8

तब 9वें से 14वें श्लोक तक संजय की उक्ति है-

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।। 9
अनेकवक्त्रनयनमनेकाभ्दूत दर्शनम्।
अनेकदिव्याभरण दिव्यानेकोद्यतायुधम्।। 10
दिव्यमालम्बरधंर दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चयमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।। 11
दिवि सूर्य सहस्त्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृश्यों सा स्यात् भासस्तस्य महात्मनः।। 12
तत्रैकस्थं जगत् कृत्सनं प्रविभक्तमनेकघा।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा।।
तत स विस्मयाविष्टो हृष्टरोम धनंजयः।। 13
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत।। 14

इस अध्याय का 35वाँ और पचासवाँ श्लोक भी संजय की उक्ति हैं-

एतच्छुत्वा वचनं केशवस्य
कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदंभीत भीतःप्रणम्य।। 35
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भूय एनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।

अठारहवें अध्याय के अन्त में कृष्ण अर्जुन से पूछते हैं-

कच्चिदेतच्छुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।

कच्चिदज्ञान संमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।। 72

अर्जुन उत्तर देते हैं-

नष्टोमोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितो-स्मिगतसन्देहः करिष्ये वचनं तब।। 73

यो यहाँ कृष्णार्जुन-संवाद समाप्त हुआ। कृष्णार्जुन का यह संवाद धृतराष्ट्र को सुना कर संजय कहते है-

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य व महात्मनः।
सवादमिदमश्रौषमभ्दुतं रोमहर्षणम्।। 74
व्यासप्रसाच्छुतवानेतद् गुहयमहं परम्।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम्।। 75
राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिदमभ्युतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।76
तच्च संस्मृत्य रूपमत्यभ्यदुतं हरेः।
विस्मयों में महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः। 76
यत्र योगेश्वरः कृष्णों यत्र पार्थोधनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजया भूतिर्धुरवा नीतिर्मतिर्मम।। 78

यहाँ गीता समाप्त हो जाती है। गीता का अन्तिम अठारहवाँ अध्याय महाभारत भीष्म पर्व का 42वाँ अध्याय है। 43वें अध्याय के शुरू के पाँच श्लोक गीता-महात्म्य के हैं। छठे श्लोक से आरंभ करके संजय धृतराष्ट द्वारा चैदहवें अध्याय में पूछे प्रश्नों का उत्तर देता है और 122 अध्यायों वाले भीष्म पर्व के शेष अस्सी अध्याय धृतराष्ट्र को सुनाते हैं।

गीता के रचयिता ने महाभारत भीष्म पर्व के 24 वे अध्याय के बाद 25वें अध्याय से 42वें अध्याय तक गीता मिलायी। इसमें धृतराष्ट्र का प्रश्न-

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युसुत्सवः।

मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय।।

उनके 14वें अध्याय के 80 श्लोकों में पूछे प्रश्नों के बाद असंगत-सा लगता है। कौरव-सेनापति के सिंहनाद और शंखनाद के बाद कौरव-सेना के शंख और भेरी नाद का वर्णन एक ही श्लोक में करके पांडव-सेना के प्रत्येक महारथी के शंखनाद का वर्णन पाँच श्लोकों में करके संजय कहते हैं-

स घोषो धार्तराष्ट्रणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।

गीता में धृतराष्ट्र का प्रश्न चैदहवें अध्याय के उनके प्रश्नों के बाद असंगत तो है ही; फिर भी हम धृतराष्ट्र के उन प्रश्नों की उपेक्षा नहीं कर सकते। उन प्रश्नों पर ध्यान देने (वर्ष 1 प्रवेशांक) पर जिसासा होती है, कि धृतराष्ट्र भीष्म द्वारा दस दिनों में करोड़ों पांडव-सैनिकों के विनाश का वर्णन सुनना चाहते थे, या कृष्णार्जुन-संवाद? और धृतराष्ट्र के उस विलाप के बाद संजय का उन्हें कृष्णार्जुन-संवाद सुनाना क्या उनके गीता में पूछे गीता में प्रश्न का ठीक उत्तर है? संजय से 'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यवरयत्' कहलाना और धृतराष्ट्र का कोई आपत्ति किये बिना इसे सुनना कितना असंगत है। धार्तराष्ट्रों की सेना में भीष्म और द्रोण जैसे अद्वितीय वीर हैं। यदि पांडव-योद्धाओं के शंखनाद सुनकर उनके हृदय विदीर्ण हो गये, तो वे किस साहस से उनसे लड़ने को खड़े हुए थे? अर्जुन ने भीष्म और द्रोण पर विजय पायी, इससे यह प्रमाणित नहीं होता, कि उनसे अधिक वीर या साहसी थे। अर्जुन की विजय का रहस्य भीष्म ने पहले बता दिया था-

जीमूत इव घर्मान्ते महावातसमीरितः।
समायुक्तस्तु कौन्तेयो वासुदेवसहायवान्।
तरणश्च कृती चैव जीर्णावावामुभाबपि।। (5,169,26)

अर्जुन की विजय का रहस्य था- वे तरुण थे और वासुदेवसहायवान् थे और भीष्म-द्रोण वृद्ध थे। उनकी उस वृद्धावस्था में भी पांडव-सेना का शंखनाद

सुनकर उनके हृदय विदीर्ण न हुए थे; और उन्हीं के पक्ष के संजय यह बात न कह सकते थे और राजा धृतराष्ट्र उसे न सुन सकते थे।

अन्त में संजय कहते हैं और धृतराष्ट्र सुनते हैं-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो-धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिध्रुवा नीतिर्ममिर्मम।।

यदि यही बात थी, तो वे युद्ध कर ही क्यों रहे थे? कृष्णार्जुन-संवाद के लंबे अठारह अध्याय संजय सुनाते हैं और धृतराष्ट्र चुप बैठै सुनते जाते हैं! एक बार भी नहीं टोकते—संजय, तुम यह क्या सुना रहे हो? क्या मेरे प्रश्नों (प्रश्न) का उत्तर है?

संजय की ये दोनों बातें- 'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्' और 'यत्र योगेश्वर.....नीतिर्मतिर्मम' कौरव पक्षीय वक्ता कह नहीं सकता और कौरव पक्षीय श्रोता सुन नहीं सकता। हाँ, यहि वक्ताश्रोता पांडव पक्षीय होते तो वे ये दोनों बातें कह-सुन सकते थे। यदि गीता धृतराष्ट्र—संजय संवाद न होकर कुन्ती-विदुर-संवाद होता-कुन्ती विदुर से पूछतीं।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेताः युयुत्सवः।
मामका धार्तराष्ट्राश्च किमकुर्वत देवर।।

और विदुर कृष्णार्जुन-संवाद सुनाते और कहते-

स घोषो धार्तराष्ट्रणां हृदयानि व्यदारयत्।
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीविजयो भूतिर्धूवा नीतिर्मतिर्मस ।।

तो आपत्ति न की जा सकती। तब गीता की संवाद-योजना निर्दोष होती कुन्ती ने अर्जुन को संन्देश भेजा था-

एतद् धनंजयो वाच्यो नित्योद्यक्तो वृकोदरः
यदर्थ श्रत्रिया सूते तस्य कोलोऽयमारातः।
न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः।।

(5,137,10)

और कृष्ण को भार सौंपा था-

अरिष्टं गच्छ पन्थानं पुत्रान् से प्रतिपालय।

(5,137,24)

और कृष्ण ने यह कर दुर्योधन का भोजन-निमन्त्रण अस्वीकार किया था-

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानिआपद् भोज्यानि वा पुनः।
न च सम्प्रीयसे राजन् नैव चापद्गता वयम् ।।

(5, 91, 25)

और विदुर के घर जाकर भोजन किया था। हस्तिानपुर से विफल लौट कर कृष्ण ने युधिष्ठिर को बताया था-

न च भीष्मो न च द्रोणो युक्तं तत्राहतुर्वचः।
सर्वे तमनुवर्तन्ते ऋते विदुरमच्युत।।

(5, 154,11)

युद्ध-संवाद जानने को कुन्ती उत्सुक थीं ही। हस्तिानपुर में अपने पुत्रों के एकमात्र हितैषी विदुर से अपने भतीजे और पुत्र का संवाद वे बड़े चाव से सुनती।

63, टैगोर टाउन, इलाहाबाद-2

आश्रम-व्यवस्थ का पुनर्मूल्यांकन

डॉ. वंशीधर त्रिपाठी

आश्रम-व्यवस्था हिन्दू धर्म की एक ऐसी संस्था है जिसके द्वारा मानवीय जीवन क्रम कुछ भागों में विभक्त किया जाता है। इस संस्था के आधार पर मनुष्य जीवन में प्रवेश करता है; जीवनयापन करता है एवं अन्त में जीवन से उपरति प्राप्त करता है। जीवन में प्रवेश करना तथा जीवनयापन करना इसकी व्यवस्था विश्व के सभी समाजों में है। जीवन में प्रवेश करने के पूर्व किसी न किसी प्रकार की शिक्षा का विधान सर्वत्र है पर उपरति का प्रावधान मात्र हिन्दू-व्यवस्था में है। उपरति मात्र सेवा-निवृत्ति नही है। सेवानिवृत्ति तो एक परिस्थिति है जबकि उपरति एक मनोदशा है। आवश्यक नही है कि सेवानिवृत्ति से उपरति का भाव पैदा हो ही।

आश्रम-व्यवस्था एक ऐसी संस्था है जिसका आधार एक दृष्टि है, एक दर्शन है। इस दर्शन की सर्वोत्तम प्रस्तुति ईशोपनिषद् में की गई है। लिखा है-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

इस श्लोक में दो बातें पूर्णतः स्पष्ट है। पहली तो यह कि हमें भोग से विरत नही होना है और दूसरी यह कि हमें त्यागवृत्ति से भोग करना है। "त्येक्तेन भुञ्जीथाः" ही वह आदर्श है जिससे व्यक्ति एवं समाज दोनों के हितों की सिद्धि हो सकती। आज का सम्पूर्ण संकट असीमित भोगवृत के कारण है। हिंसा, संघर्ष, युद्ध, अपराध-सभी कुछ असीमत भोग के परिणाम है। असीमित भोग आज विश्व की अनेक संस्कृतियों का मानक बन चुका है। वहाँ माना जाता है कि भौतिक समृद्धि असीमित भोग जैसी वृत्ति का परिणाम है। उनका तर्क है कि आज जो हम विज्ञान का प्रकाश देख रहे है, वह उपरति नही वरन् प्रवृत्ति एवं भोगवृत्ति का परिणाम है। जभी हम भोग की गुणता में वृद्धि करते है तभी तकनीक एवं विज्ञान का स्तरोन्नयन होता है, अन्यथा भोगलिप्सा के अभाव में इनका कोई मूल्य नही है। भोगलिप्सा ही वह आन्तरिक प्रेरक है, वह

प्राथमिक गतिकारक है जिसमें विज्ञानचक्र में गति के परिणामस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में भौतिक समृद्धि होती है।

इसमें सन्देह नही कि इस तर्क में शक्ति है। पर कितनी शक्ति है, इस पर हमें विचार करना है। असीमित भोग का प्रत्यक्ष संबंध वैज्ञानिक उन्नति से है, इस विषय पर दो मत नही हो सकते। परन्तु विज्ञान की गति मात्र एक ही दिशा की ओर नही होती है। विज्ञान की गति उभय-दिशात्मक है। इसमें समृद्धि तो होती है, पर यह संहार का भी कारण बनती है। आज संसार वैज्ञानिक विकास के उस शिखर पर पहुँच चुका है जहाँ नाभिकीय युद्ध की स्थिति में मात्र कुछ क्षणों में ही धरा पर जीवन अतीत का विषय बन सकता है। इतिहास तो उसका होता है जिसके विषय में किसी परवर्ती को ज्ञान होता है। यहाँ कोई परवर्ती रहेगा ही नही जो वर्तमान धरा-संस्कृति का साक्ष्य दे सके।

इस प्रकार असीमित भोग के सत्परिणाम एवं दुष्परिणाम हमारें सम्मुख है। अब यह कहा जा सकता कि "त्यंक्तेन भुञ्जीथाः" संस्कृति निवृत्तिपरक है। इस सम्बन्ध में मेरा मत यह है कि यह निवृत्तिपरक अवश्य है पर साथ ही प्रवृत्तिपरक भी है। हिन्दू जीवनदृष्टि पर विरूद्ध अर्थारोपण की प्रक्रिया द्वारा यह मान लिया गया है कि इसमें लोक का नही परलोक मात्र का महत्व है, प्रवृत्ति का नही निवृत्ति का महत्व है। भारतीय दृष्टि की इस लोकप्रियता के लिए बाहरी कम भीतरी लोग अधिक उत्तरदायी है। भारतीय जिन्तकों ने स्वयं भारतीय संस्कृति को इस रूप में प्रयुक्त किया है कि परलोक, निवृत्ति एवं वैराग्य ही सब कुछ है। इहलोक एवं प्रवृत्ति असत् है, मिथ्या है।

परन्तु मेंरी दृष्टि में ऐसा मानना सत्य से परे है। "त्यक्तेन भुञ्जीथाः" संस्कृति इहलोक की उपेक्षा कर ही नही सकती है। इस संस्कृति में मात्र भोग पर शंकुश का प्रावधान है। भोग प्राथमिक स्थिति है तथा अंकुश द्वितीयक। अंकुश बाह्य नही, आन्तरिक होता है। ऐसी स्थिति में "त्यत्तेन भुञ्जीथाः" संस्कृति भौतिक समृद्धि, विज्ञान प्रभृति का तर्कतः विरोध कर ही नही सकती है यदि भारतीय चिन्तकों ने विरोध

करके ऐतिहासिक भूल की है तो आज इस भूल का पश्चात्ताप करके हमें उसका परिहार करना चाहिए।

भारतीय चिन्तन में लौकिक एवं पारलौकिक हितों पर समान बल दिया गया है, महर्षि कणाद धर्म उसी को मानते है जिससे अभ्युद्य और निःश्रेयस् दोनों की सिद्धि होती है। (यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः)

अब प्रश्न आज है। आज क्या आश्रम-व्यवस्था निवृत्ति मार्ग का पर्याय बन गई है। मेरी दृष्टि में स्थिति कुछ ऐसी ही है। आश्रम-व्यवस्था का मूल स्वर निवृत्ति परक हो गया है। इस स्वर में प्रवृत्ति का स्वर मन्द पड़ गया है। यह असन्तुलन की स्थिति है। इस असन्तुलन ने मिथ्याचार को जन्म दिया है। मूलतः लोग प्रवृत्ति मार्गी हैं पर व्यवस्था के दबाव के कारण निवृत्ति का आवरण लपेटे है। मिथ्याचार एक ऐसा रोग है जिससे कोई भी संस्कृति एवं समाज पतन के गर्त में गिर जाता है। अतः प्रत्येक पीढ़ी का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह इस बात की देखने का प्रयास करती रहे कि उनके समाज में मिथ्याचार की वृत्ति तो नही पनप रही है। ऐसी वृत्ति को शैशवावस्था में ही समाप्त कर देना चाहिए।

कोई भी संस्था अपने में साध्य नही है, वह मानवीय कल्याण का साधन है। प्रत्येक संस्था और संस्था ही क्यों, संस्कृति का प्रत्येक घटक मानव कृति है। स्वयं संपूर्ण संस्कृति ही मानव-कृति है। समाज एवं संस्कृति में वही सम्बन्ध है, जो मकड़ी और उसक जाले में है। जैसे मकड़ी जाला बुनती है, वैसे ही समाज संस्कृति के ताने-बाने बुनता है। जब आवश्यकतानुसार समाज संस्कृति का निर्माण करता है तो वह उसका उच्छेद भी आवश्यकतानुसार कर सकता है। समाज स्वामी है, संस्कृति उसकी दासी है।

समाज एवं संस्कृति में वैसे तो स्वामी एवं दासी का सम्बन्ध है, पर वास्तविक स्थिति में ऐसा हो जाता है कि स्वामी अपने को दास मानने लगता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे संस्कृति स्वतः प्रसूत, स्वतंत्र एवं साध्य सत्ता है और उसे इसकी अधीनता स्वीकार करनी है। वस्तुतः यह सब अज्ञान, भ्रम एवं आत्मविश्वास की कमी के कारण होता है। जब समाज में आत्मविश्वास बढ़ता है तो वह संस्कृति के

विभिन्न घटको की रचना करता है। जब उसमें आत्मविश्वास घटता है तो स्वयं उसी की कृति उस पर आधिपत्य स्थापिक करके उसे दासता की स्थिति में ला देती है। हमें इस सांस्कृतिक दासता की स्थिति का भेदने करना होगा, तभी हम अपने स्वरूप एवं अपनी महत्ता को पहचान सकेंगे।

व्यवस्था की त्रिपुटी :

प्रत्येक व्यवस्था में दृष्टि, संस्था एवं कार्यक्रम की त्रिपुची कार्य करती है। दृष्टि वह आधार है जिस पर संस्था एवं कार्यक्रम का भवन निर्मित होता है। आधार अपेक्षाकृत स्थिर होता है और आश्रम में अस्थिरता रहती है। किसी भी व्यवस्था का प्राण एवं उसकी अस्मिता उसकी दृष्टि में निवास करती है। आवश्यकतानुसार संस्था एवं कार्यक्रम में परिवर्तन लाना उतना ही आवश्यक है, जितना ऋतु के अनुसार वस्त्र धारण करना। जहाँ तक दृष्टि का प्रश्न है, उसमें स्थिरता अवश्य होती है, पर यदि परिवेश में गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है तो समाज व्यवस्था-दृष्टि में भी परिवर्तन कर सकता है।

एक उदाहरण से इस विचार को स्पष्ट किया जा सकता है। शव-दाह एक संस्था है, संस्कार है, जबकि लकड़ी द्वारा शव-दाह एक कार्यक्रम है। कार्यक्रम का स्वरूप मानवीय सभ्यता पर अवलम्बित रहता है। आज विद्युत शवदाह की परिस्थिति बन रही है। ऐसी स्थिति में विद्युत शव-दाह एक वैकल्पिक कार्यक्रम है। यदि एक कार्यक्रम के स्थान पर दूसरे को अपनाते है तो इससे हम अपनी मूल दृष्टि एवं संस्था से विलग नही होते है। यदि व्यवस्थाएँ परिस्थिति के अनुसार अपने कार्यक्रमों में परिवर्तन करती है तो उनमें गत्यवरोध नही उपस्थित होता है। परिवर्तन का कम जहाँ रूकता है वहीं व्यवस्था में व्यतिक्रम उपस्थित होता है, विकृति पैदा होती है।

कुछ संस्थाएँ ऐसी होती है जिनका व्यवस्था से कोई विरोध नही होता। ऐसी संस्थाओं में परिवर्तन की कोई आवश्यकता नही होती है। पर कुछ ऐसी होती है, जिनका वयवस्था-हित से विरोध होता है। ऐसी स्थिति में व्यवस्था एवं संस्था विशेष में विसंगति पैदा हो जाती है। विसंगति से विकास की गति अवरूद्ध

हो जाती है। संस्थाओं की रचना में आवश्यक परिवर्तन के द्वार अवरोध से मुक्ति होती है।

आश्रम-व्यवस्था एक ऐसी संस्था है जिसमें विसंगति की स्थिति पैदा हो गई है। जब तक इस विसंगति का उच्छेदन नही होता है, तब तक सामाजिक प्रक्रिया का अन्तर व्यापार अनवरूद्ध रूप से नही चल सकता है। यदि इस संस्था में वांछनीय परिवर्तन किया जाता है तो इससे अस्मिता-बोध पर कोई आँच नही पड़ती है। वैसे यह आवश्यक है कि जो भी परिवर्तन किया जाय उसकी संगति भारतीय मूल दृष्टि से अवश्य हो।

नव-आश्रम व्यवस्था :

मेरा प्रस्ताव है कि आश्रम चार के स्थान पर तीन होने चाहिए। वानप्रस्थ आश्रम की अब कोई आवश्यकता नही है, पहले थी। परम्परागत आश्रम व्यवस्था के अनुसार गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थ का प्रावधान इसलिए था कि गृहस्थ से संन्यास में जाना एक लम्बी छलाँग थी। इसलिए इन दोनों के बीच एक अन्तरिम आश्रम की व्यवस्था की गई। इस आश्रम में रहकर लोग अगले आश्रम की मानसिकता बनाते थे। चूँकि अब नगरीकरण के कारण वनों का क्षेत्र सीमित हो गया है, इसलिए इस आश्रम की सार्थकता एवं प्रासंगिकता और भी कम हो गई है।

आश्रम-व्यवस्था का आधुनिक युग में प्रस्तावित रूप इस प्रकार है- ब्रह्मचर्य आश्रम तो ठीक है हीं आधुनिक विधान के अनुसार पुरूष का विवाह 21 वर्ष में ही हो सकता है। इसे बढ़ाकर यदि 25 वर्ष कर दिया जाय तो प्राचीन व्यवस्था एवं आधुनिक विधान में पूर्णसंगति की स्थिति बन जायेगी। दूसरा गृहस्थाश्रम है। इसमें भी कोई समस्या नही है। सेवा-निवृत्ति की आयु आजकल 60 वर्ष है। अतः गृहस्थाश्रम की आयु-सीमा 25 वर्ष से 65 वर्ष रखी जा सकती है। जो सेवा में नही है, वे भी 65 वर्ष की आयु तक अपने सारे उत्तरदायित्वों से लगभग मुक्त हो जाते है।

65 वर्ष की आयु के बाद संन्यास आश्रम प्रारम्भ होना चाहिए। प्रस्तावित संन्यास आश्रम में घर छोड़ने की आवश्यकता नही है, आवश्यकता है निवृत्ति दृष्टि की। उसे मनसा निवृत्त होना चाहिए। जो लोग मनसा निवृत है, और जिन्हें अपने योग-क्षेंम के लिए दूसरों पर आश्रित नही रहना है, वे ही संन्यासी की निम्नतम योग्यताओं से युक्त माने जायें। इन योग्यताओं के साथ भारतीय संस्कृति का ज्ञान अतिरिक्ति योग्यता मानी जा सकती है।

इन तीनों योग्यताओं से युक्त कोई भी व्यक्ति नव- संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है। नव संन्यास परम्परागत संन्यास से कई दृष्टियों से भिन्न है। नव-संन्यास में कोई कर्मकाण्ड नही है, लेकिन परम्परागत संन्यास कर्मकाण्डों का संकुल है। परम्परागत संन्यास में निवृत्ति दृष्टि बाध्यात्मक हो जाती है, जबकि नव संन्यास में यह स्वाभाविक होती है। यदि कभी भी किसी नव-संन्यासी में निवृत्ति-दृष्टि के प्रति शंका हो तो वह पुनः गृहस्थाश्रम में आ सकता है। वैसे नव-संन्यासी का परिवेश तो सर्वदा गृहस्थाश्रम का ही रहता है अन्तर मात्र मानसिकता का ही होता है।

परम्परागत संन्यास में संन्यास एक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है। जबकि नव-संन्यास सम्प्रदाय न होकर मात्र आश्रम है। हिन्दू-व्यवस्था में निष्ठा रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी वर्ग का हो, स्त्री हो या पुरूष, नव-संन्यास धारण कर सकता है। इसके लिए परम्परागत संन्यास से संलग्न निर्योग्यताएँ नही है।

नव-संन्यासी को भ्रमण की भी आवश्यकता नही है। उसे भिक्षावृत्ति भी नही अपनानी है। "त्यक्तेन भुञ्जीथाः" का मर्म है कि भोग में रहकर भी हम भोग से भिन्न है। हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व भोग में लिप्त नही होना चाहिए। भोग अलग है, भोक्ता अलग है, यही "त्यक्तेन भुञ्जीथाः" का मूलमंत्र है।

इस मंत्र से बड़े लाभ है। इन लाभों को व्यक्तिगत एवं सामूहिक दो भागों में बाँटा जा सकता है। सबसे भारी व्यक्तिगत लाभ तनावमुक्ति है।

तनावमुक्ति का सीधा सम्बन्ध आयु से है। तनावमुक्त व्यक्तियों की आयु में क्षीणता नही आती है, रक्तचाप जैसे रोगों से वे मुक्त रहते है। जब भोग-भोग के लिए नही है, इस ज्ञान में निष्ठा स्थापित हो जाती है, भोग के प्रति अन्धानुगमन, समाप्त हो जाता है, तो तनावमुक्ति की स्थिति बनती है। धन एवं पद के लिए जो अन्धी दौड़ है, वह "त्यक्तेन भुञ्जीथाः" मंत्र से रूक सकती है। दूसरा लाभ समाजिक है। जब व्यक्ति की दौड़ कम होती है तो सम्पूर्ण परिवेश में शान्ति का वातावरण रहता है, फलतः समाज में हिंसा, अपराध, संघर्ष की प्रवृत्ति कम होती है।

शान्ति एव तनावमुक्ति को आलस्य, निष्क्रियता आदि जैसी स्थितियों के समान समझना भारी भूल है। शान्तियुक्त तनावमुक्त व्यक्ति निष्क्रिय हो, यह आवश्यक नही है। दोनों अलग-अलग तत्व है।

मोक्ष क्या है, यह तो कदाचित कुछ ही लोग जानते हो, पर शान्ति, तनावमुक्ति ऐसे तत्व है, जिनकी आवश्यकता सभी को है। आज इनका महत्व और भी बढ़ गया है। ऐसी स्थिति में नव-संन्यास के प्रस्ताव पर हमें गंभीरता से विचार करना चाहिए।

रीडर, समाजशास्त्र विभाग,
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

तन्त्र-सिद्धान्त और साधना

डॉ. प्रभुदयालु अग्निहोत्री

(भू0 पू0 कुलपति जबलपुर विश्वविद्यालय)

तन्त्र शब्ध 'तनुविस्तारे' धातु से बना है। तन्यतेविस्तीर्यते ज्ञानमनेन- अर्थात जो ज्ञान के विस्तार का साधन हो। "त्रै रक्षायाम्" से इसकी व्युत्पत्ति माने तो अर्थ होगा, जिसके द्वारा रक्षा की जाय- त्रायते अनेन। वस्तुतः तंत्र में दोनों अर्थ निहित है। कामिक आगम में कहा है-

तनोति विपुलानर्थान् तन्त्रमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरूते यस्मात्तन्त्रमित्याभिधीयते।।

अर्थात वह तन्त्र मन्त्र सहित विपुलः अर्थों का विस्तारक भी है और रक्षक भी। तन्त्र का एक नाम आगम भी है। वाचस्पति मिश्र ने योगदर्शन की तत्ववैशारदी व्याख्या में आगम को अभ्युदय एवं निःश्रेयस् के उपायों का बोधक कहा है। वाराही तन्त्र में आगम के सात लक्षण बतलाये है-

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवानां तथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव व ।।
कर्म साधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्वुधाः।।

अर्थात् आगम या तन्त्र में सृष्टि, प्रलय, देवताओं की पूजा का विधान, सिद्धि को प्राप्त करने के उपाय, मोहन, मारण, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन, विशेषण आदि क्रियायें, पुरश्चरण और ध्यान योग ये सात बात सम्मिलित है। देवतार्चन में देवता के रूप, गुण, कर्म का चिन्तन, तद्विषयक मन्त्रों का उद्धार, उपासना की पटल पद्धति, कवच और सहस्त्रनामस्तोत्र इन पाँचों अंगों का निरूपण होता है। जिस तरह वेद का लक्ष्य ज्ञान है, उसी प्रकार तन्त्र का लक्ष्य किया है।

तन्त्रों में शक्ति की संख्या बहुत अधिक है। ऋग्वेद के वागाम्भृणी (10-125) सूक्त में जिस शक्ति तत्व का प्रतिपादन किया गया है वही शाक्त तन्त्रों का आधार है। इसका लक्ष्य है- जीवात्मा की परमात्मा के साथ अभेद-स्थिति, देवोभुत्वा यजेद् देवम्। इसमें जीव के तीन भाव माने गये है- पशु, वीर और दिव्य। इनके आचार मार्गों में दो प्रमुख है- समयाचार और कौलातार। कौलाचार में चक्र या योनि की प्रत्यक्ष रूप से पूजा की जाती है और मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन को भी महत्व दिया जाता है। प्रमय मार्गों चक्र की केवल भावना करते है और उपर्युक्त पंचरत्नों के अन्तर्याग या आन्तरिक उपासना में विश्वास रखते है और उनकी प्रतिनिधि भूत वस्तुओं का प्रयोग करते है। कौल वाममार्गी और समयाचार वाले दक्षिणामार्गी कहलाते है। वाममार्गियों का प्रमुख केन्द्र कामाख्या है।

तान्त्रिक पद्धति में वैष्णव तन्त्र का भी स्थान महत्वपूर्ण है। पांचरात्र और वैखानस आगम इसके प्रतिनिधि है। अगस्त्य, कश्यप, अहिर्बुध्न्य और नारद की संहिताएँ इसके आधार ग्रन्थ है। पांचरात्र का ही दूसरा नाम भागवत या सात्वत धर्म है। इसके मत में भगवान उपेय (प्राप्य) भी है और उपाय (प्राप्ति साधन) भी। बिना भगवान् के अनुग्रह के जीव उस प्राप्त नही कर सकता और अनुग्रह का एक मात्र उपाय है शरणागति, एक मात्र शरणागति पर जोर देने के कारण इस तन्त्र को एकायन भी कहते है। पांचरात्र का अर्थ है पाँच विषयों का ज्ञान। ये विषय है- परमतत्, भुक्ति, मुक्ति, योग तथा विषय (संसार)। पांचरात्र संहिताओं के मुख्य प्रतिपाद्य विषय है- ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या। ज्ञान योग में ईश्वर, जीव और जगत् के रहस्यों और सृष्टि तत्व पर विचार किया गया है। योग के अन्तर्गत मुक्ति के साधनभूत योग तथा उससे सम्बन्धित बातें आयी है। क्रिया में देवालय निर्माण, देवविग्रह की प्रतिष्ठा और उसका सांगोपांग वर्णन है तथा चर्या में दैनिक क्रियाये, मूर्ति और यन्त्रों का पूजन तथा पर्वो और उत्सवों से सम्बन्धित विशिष्ट पूजन का विधान है। भगवान् कि सुष्टि-निर्माण सम्बन्धी

संकल्प को क्रिया शक्ति कहते हैं और वास्तविक शक्ति को भूति शक्ति। इन शक्तियों के रहने पर ही भगवान् सृष्ट-स्तिति-संहार में समर्थ होते है। पाषाणादि से बनी भगवान् की मूर्तियां अर्चा कहलाती है। इनका अर्चन पूजन चर्या के अन्तर्गत आता है। वैष्णव तन्त्र के अनुसार जीव सर्वज्ञ और शक्तिशाली तो है किन्तु सृष्टिकाल में भगवान् की तिरोधान शक्ति उसके गुणों को तिरोहित कर उस अणु, किंचित्कर और किंचिज्ज्ञ बना देती है। इन अणुत्वादि का नाम है मल। मल से आबद्ध होकर जीव पूर्वकर्मानुसार जन्म, आयु और भोग प्राप्त करता रहता है और यह चक्र तब तक चलता रहता है जब तक भगवान् का शक्तिपात या अनुग्रह उसे नही प्राप्त होता है और शक्तिपात या कृपा दृष्टि प्राप्त होने का एक मात्र साधन है शरणागति। शरणागति छह प्रकार की होती है।- (1) भगवान् के अनुकूल रहने का संकल्प, (2) और उसके प्रतिकूल भाव का परित्याग, (3) वह मेरी रक्षा करेगा, ऐसा विश्वास है, (4) भगवान् को ही अपना रक्षक मानना, (5) आत्मसमर्पण, (6) दैन्य भाव-

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तुत्व-वरणं तथा।।
आत्मनिक्षेप ऐश्वर्यै -अहिर्बुध्न्य सं. 14

तन्त्र की एक अन्य महत्वपूर्ण शाखा है शैवतन्त्र। सर्व प्रथम अथर्वाशिरम् उपनिषद् में पशुपति, व्रत, पशु और पाश आदि शैव तान्त्रिक शब्दों का प्रयोग मिलता है। यों महाभारत और वामनपुराण में शैव मतों का वर्णन है। वामन के अनुसार शैव, पाशुपत, कालदमन और कापालिक ये शैव सम्प्रदाय है। पाशुपत मत के संस्थापक लकुलीश या नकुलीश बतलाये जाते है। इनकी गणना भगवान शंकर के अठारह अवतारों में की जाती है। पाशुपतों का एकमात्र ग्रन्थ महेश्वर रचित पाशुपत सूत्र अब उपलब्ध है। वीर शैव मत के अनुयायी लिंगायत कहलाते है। ये लोग वर्ण व्यवस्था नही मानते ओर कण्ठ में शंकर की लिंगायत मूर्ति लटकाये रहते है। पाशुपतों का केन्द्र गुजरात और राजस्थान तथा वीर शैवों

का कर्णाटक है। प्रत्यभिज्ञांदर्शन भी शैव तान्त्रिक क्षेत्र की उपज है। इसे स्पन्द और षडध शास्त्र कहते है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन अद्वैतवादी है। इसके अनुसार गुरू के उपदेश से जब जीव को यह ज्ञात हो जाता है कि मै शिव हूँ तो आत्मास्वरूप शिवत्व का साक्षात्कार हो जाता है। परमेश्वर सदा अपनी स्पन्द रूप शक्ति से युक्त रहता है। यह शक्ति उसका नित्य स्वभाव है। इस दर्शन के आधारभूत तोन ग्रन्थों के कारण इस मत को त्रिक भी कहते है। प्रत्यभिज्ञादर्शन का साहित्य विशाल है। इसका मूल ग्रन्थ है वसुगुप्तरचित स्पन्दकारिका और इस शास्त्र के प्रतिष्ठापक है सोमानन्द् जिसका शिवदृष्टि नामक तर्कप्रतिष्ठ ग्रन्थ 700 श्लोकों में उपनिबन्द्ध है। बाद में उत्पलदेव और अभिनव गुप्त ने इस प्रौढ़ता प्रदान की। अभिनवगुप्त का तन्त्रालोकतो तन्त्रशास्त्र का विश्वकोश ही है।

शाक्ति तन्त्रों की संख्या तो इन सब से भी अधिक है। शाक्त पूजा पद्धति बहुत गोपनीय मानी जाती है। इसके आगम सात्विक्, राजस् और तामस भेद से तन्त्र, यामल और डामर कहलाते है। शाक्तपूजा के प्रमुख केन्द्र है - कश्मीर, कांची और कामाख्या। इनमें प्रथम दो श्रीविद्या और तृतीय कौलमत का केन्द्र रहा है। शाक्त मन्त्रों का प्रारम्भ अथर्व वेद के सौभाग्यकाण्ड से माना जाता है। शैव और शाक्त तन्त्र में एकमात्र अन्तर शिव और शक्ति का प्रामुख्य है।

शक्ति पूजा का उद्गम मातृ पूजा की भावना से हुआ है जो प्रायः विश्व की सभी संस्कृतियों के साथ उनके शैशव से ही जुड़ी रही है। विश्व भर के पुराशास्त्र (माईथालाजी) का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। सिन्धुघाटी-सभ्यता काल में भी मातृपूजा का प्रचलन रहा है। ऋग्वेद के श्रीसूक्त(खिलसूक्तों के द्वितीय अध्याय का छठा सूक्त) में जातवेदस् से प्रार्थना की गयी है कि वह श्री को हमारे पास ले आये जिससे हम हिरण्य, गो, अश्व तथा पुरूषों को प्राप्त कर सकें। इसमें श्री को हिरण्यवर्णा, हिरण्यमयी, स्वर्ण तथा रजत की माला से भूषित और पदम् पर स्थित बतलाया है। वह आदित्य वर्णा है और उसका प्रियवृक्ष है- विल्व। श्री सुक्त में कहा है-

अश्वपूर्वोरथमध्यांहस्तिनाद - प्रमोदिनीम् ।
श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम्।। 2/6/3
गन्ध द्वारां दुराधर्षा नित्यपुष्टां करीषिणीम्।
ईश्वरी सर्वभूतानां तामिहोपह्वयो श्रिमम् ।। वही, - 9

इसी श्रृंखला में अथर्ववेद का पृथिवी सुक्त भी आता है जिसमें भूमि का माता और द्यो को पिता कहा है- भूमिर्माता नभस्पिता। ऋग्वेद के कई मन्त्रों और खिलसूक्त 4-7 में यह वाक्य मिलता है। आपः भी माता कही गयी है। ऋग्वेद क नहीमुक्तों, विशेषतः सरस्वती सूक्त में यह भ्रद्धा स्पष्ट देखी जा सकती है। धीरे-धीरे सरस्वती ने वाग्देवी का रूप ग्रहण कर लिया, इसी प्रकार रात्रि के प्रति भी मातृ भाव देवा जा सकता है-

रात्रिं प्रतद्ये जननीं सर्वभूतनिवेशनीम् ।
भद्रां भगवतीं कृष्णां विश्वस्य जगतोनिशाम्।। ऋग्. खिल 4

इसी खिल सूक्त में रात्रि को दुर्गा कहा है- दुर्गा देवीं शरणमहं प्रपद्ये। ऋग्वेद (10/125) में आम्भृणी वाक् जो मातृ रूपा ही है, अपनी विराट्शक्ति का उद्घोष, करती मिलती है-

अहं रूद्रै र्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरूत विश्वदेवैः।
तथा- अहं रूद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्त वा उ।
तथा- यं कांमये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्राह्मणं तमृषि तं सुमेघाम्।

वैदिक संहिताओं में ही हमें देव माता अदिति के दर्शन होते है जिसके विभिन्न रूप श्री, सरस्वती और काली में विकसित हुये है-

तुविक्षत्रामजरन्तोमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।

अर्थात अदिति बहुत विस्तार वाली, विस्तृत, अजर, कल्याणमयी और श्रेष्ठ नेत्री है। अदिति पृथिवी है जिसे , अथर्ववेद ने विश्वम्भरा और वसुधानी कहा है। उपनिषद् में वह मातृशक्ति हैमवती उमा के रूप में मिलती है-

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हेमवतीम्।
(केनोपदिषद्)

पुराणों तक आते- आते इसी मातृ शक्ति ने गायत्री, सावित्री, सरस्वती और ब्रह्मणी नाम भी ग्रहण कर लिये। मत्स्यपुराण में कहा है-

शतरूपा च साख्याता सावित्री च निगद्यते।
सरस्वत्यथ गायत्री ब्राह्मणी च परंतप।। 3।31।9

कूर्मपुराण में उसका पार्वती स मिलता जुलता है-

वृषावेशा वियन्मात्राः विमन्ध्यपर्वतवासिनी।
हिमवन्मेरू - निलया कैलाशगिरिवासिनी।। 12।175

अदिति का रूप यदि सौम्य है तो कालानुसार कठोर भी। मुण्डकोपनिषद् में हम उसे सप्तजिह्वा कराली के रूप में देखते है-

काली कराली च मनोजना च सुलोहिता या च सुधूमवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपीं च देवी लोलायमाना इति सप्तजिह्वाः।।

मत्स्यपुराण (154।82) में उसे कालरत्रि भी कहा है और विभावरी भी अग्निपुराण में वह चतुर्मुखी औ नर, वाजी, महिषादि की भक्षणकर्वी भी है। वह लम्बोष्ठी तेल से भीगी, कृष्णा, नग्ना और भयंकरी है-

नृवाजिमहिषेभांश्च खादन्ती च करे स्थितान्। 132/141
तथा- लम्बोष्ठी कर्णिकाकार्णी तैलाभ्याक्तशरीरिणी।
वर्धन्मूर्धध्वजा कृष्णा कालरात्रिर्भयकरी। 50।52

मत्स्यपुराण में उसकी कुछ अन्य विशेषतायें व्यक्त हुयी है। यहाँ उसमें वे सारी विशेषताये स्फुट है जो शक्ति उपासकों की आराध्या काली में मिलती है-

मातृणां लक्षणं वक्ष्ये.....
कुमाररूपा कौमारी मयूरनरवाहना।
रक्तवस्त्रधरा तद्वच्ऐछशक्तिधरा मता।- 261।24

यह रूप काली विलास-तन्त्र और ज्ञानार्णव तन्त्र के बहुत समीप है जिनमें उसे विषयोनि, त्रिकोण कुण्डली, त्रिकोण रूपा योनि माता कहा है। आगे चलकर शंकराचार्य ने, जो भी श्री विद्या के प्रतिष्ठापक माने जाते है इसी मातृ शक्ति को शिव को भी ऊपर प्रतिष्ठित कर दिया-

शिवः शक्त्या युक्तों यदि भवति शक्तः प्रभवितु।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।। - सौन्दर्यलहरी

इस सब से स्पष्ट है कि वैदिक काल से लेकर आज तक भारत में मातृपुजा की परम्परा अविच्छिन्न रही है भले ही समय-समय पर इस शक्ति को अदिति, पृथिवीस, इला, मही, सरस्वती, गायत्री, सावित्री, उमा, दुर्गा, काली, महालक्ष्मी, त्रिपुरा, कामाख्या, चण्डी और उग्रचण्डा आदि नाम दे दिये गये है। शाक्त तंत्र इसी आद्या शक्ति की आराधना के प्रेरक है। इतना ही नहीं, बौद्ध तान्त्रिक भी जिस देवी श्ताराश् की आराधना करते है या सारे हिमालयांचल तथा तिब्बत में जो मणिपद्मा पूजित है वही भी इसी मातृ-शक्ति या आद्या शक्ति का अपर नाम है।

तान्त्रिक साधना में दीक्षा का महत्व बहुत अधिक है। यह साधना का प्रथम चरण है।

वस्तुतः आत्म संस्कार का ही दूसरा नाम दीक्षा है। दीक्षा मल युक्त आत्मा का शोधन करती है। आत्मा आणक, काम और मलों या पासों में आच्छन्न रहना है। इन्हीं के कारण उसका स्वभावंसिद्ध पूर्णत्व प्रकट नहीं हो पाता। दीक्षा से मल निवृत्ति होती है और धीरे-धीरे जब मलनिवृत्ति का संस्कार भी शान्त हो जाता है तो ज्ञान की प्राप्ति और पाशव भावना का क्षय होता है।

दीप्यते ज्ञान सद्भावः क्षीयते पशुवासना।

जीव की मोक्ष देनेवाला है ईश्वर या ईश्वरी। वही अपनी क्रिया शक्ति रूप दीक्षा के द्वारा पशु आत्मा को मुक्त करता है। पाशों के विच्छेद सर्व ज्ञान किया के उद्भव एवं कर्तृत्व के स्फुरण का नाम है मोक्ष, किन्तु पशु अर्थात् जीव अपने उपायों से उसे प्राप्त नही कर सकता। एदर्थ ईश्वर की प्रेरणा आवश्यक होती है। अतः ईश्वर ही गुरू है। शक्तिपात की तीव्रता और अधिकारस्तर के

अनुसार दीक्षा के प्रकार भिन्न- भिन्न हो सकते है। ईश्वर ही दीक्षा व्यापार के द्वारा मल की निवृत्ति करता है, इसीलिए कहा है-

दीक्षैव मोक्षयत्यूर्ध्व शैवं धाम नयत्यपि।

तीव्रतम शक्तिपात में अनुपायक्रम से दीक्षा होती है। जिससे एक ही क्षण में अपवर्ग की प्राप्ति हो सकती है।

शक्तिपात ईश्वर की कृपा का शास्त्रीय नाम है। यह स्वरूप स्थिति का उपाय है। वेदान्त की भाषा में स्वरूपस्थिति का अर्थ आत्मा का पूर्ण ब्रह्मभाव है। किसी-किसी के मत में शक्तिपात ज्ञान के उदय से होता है और किसी- किसी के मत में कर्म साम्य से। ज्ञानाग्नि कर्मो को भस्स कर देती है। इसी प्रकार समान शक्ति वाले परस्पर विरोधी कर्मों की प्रतिबन्ध कर्म साम्य कहलाता है। द्वैतभाव के समर्थक तान्त्रिक आचार्य शक्तिपात का हेतु मलपात हो मानते है। इसके अनुसार दो विरूद्ध कर्मों का संनिपात होने पर भी शक्तिपात नही होता, अपितु मलपाक से होता है। किरणागम में कहा है-

अनेक भाविकं कर्म दग्धबीजमिवाग्निभः।
भविष्यदपि संरूद्ध येनेदं तद्धि भोगतः।।

कर्म साम्य से विज्ञान कैवल्य की ही प्राप्ति होती है, मोक्ष की नही। अद्वैतवादी तान्त्रिकों के अनुसार शक्तिपात न ज्ञानोदय से और न कर्म साम्य से अपितु भगवान् की इच्छा से ही होता है। उत्पल देव ने कहा है-

शक्तिपात समये विचारणं प्राप्तमीश न करोमि कहिचिंत्।

शक्तिपात माया-निरपेक्ष है। जो लोग माया से आकान्त नही है ये कामादि के अधीन नही होते। केवल शक्तिपात के प्रभाव से ही उनको भोग या मोक्ष रूपा सिद्धी प्राप्त होती है। शक्ति पात के बिना कोई जीव पूर्णत्व लाभ नही कर सकता। शक्तिपात भी तीव्र, मध्य और मन्द कोटि का होता है और तारतम्य

जीव की धारणा शक्ति के भेंद से होता है। फिर भी एक बार शक्तिपात हो जाने पर जीव देर या सवेर कभी न कभी परम पद में पहुँच ही जाता है।

शक्तिपात की पात्रता के साधक अनेक साधक अपनाते है। इनमें जप-साधना सरल और सर्वग्रहय है। शास्य में कहा है-

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाचइत् सर्वममृतं यच्च मत्र्यम्।

अर्थात वाक् ने ही सारे भुवन उत्पन्न हुये है और सारे नश्वर-अनश्वर पदार्थ और प्राणी वाक् की ही प्रसूति है। सृष्टि का मूल शब्द है और शब्दातीत ब्रहम के साक्षात्कार का साधन भी शब्द ही है। वाक् के चार भेद हैं- परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। वाक् निम्न स्तर की है। किन्तु इसके सहारे परा वाक् तक पहुँचा जा सकता है और बाद में उसका भी अतिक्रम किया जा सकता है। वैखरी 'विश्वविग्रहा' है अर्थात् वह स्थूल विश्व और स्थूल देहों में कार्य करती है। जब तक चिद्भाव का उन्मेष नही होता, मनुष्य वैखरी भूमि में आबद्ध रहता है। धीरे-धीरे साधना मार्ग के सहारे पुरूष मध्यमा की ओर बढ़ता है। मध्यमा भूमि को शास्त्रों ने मन्त्र मय भूमि कहा है। यहीं से मन के शोधन और विज्ञान द्वार के उद्घाटन का प्रारम्भ होता है। वैखरी वाक् व्यक्त है किन्तु मध्यमा व्यक्त और अव्यक्त दोनों-उभयात्मक है। मध्यमा के परे पश्यन्ती या दिव्यवाक् है। वह अव्यक्त है। इसी भूमी से मन्त्र का साक्षात्कार या ऋषित्व की प्राप्ति होती है। पश्यन्ती के आगे जो परावाक् है वह चिन्मय है और परम अव्यक्त भी। उध्व सहस्त्रार से उठकर हृदय पर्यन्त जाने वाली मध्यमा, नाभिपर्यन्त जाने वाली पश्यंती और मूलाधार तक जाने वाली वाक् परा है। परा का ही नाम नित्य अक्षर है। यही तत्वातीत अद्वैत स्थिति है जिस तक पहुँचने के लिये श्रेष्ठ उपायों में से एक जप भी है।

जप के मुख्य दो भेद है- आन्तर और बाहय। बैखरी जप बाहय। यह प्रारम्भिक किया है। जैसे आन्तर पूजा बाहय पूजा से श्रेष्ठतर है ऐसे ही आन्तर जप भी। नाना प्रकार के वर्णों के विधिपूर्वक उच्चारण बाहय जप है। प्रारम्भ तो

बाहय जप से ही करना होता है और कर्तव्य की भावना के साथ इसमें प्रवृत होना होता है। यह कण्ठ द्वारा सम्पन्न होता है। बाद में कण्ठ से काम नही लिया जाता और न प्रयत्न द्वारा किया जाता है फिर भी जप अपने आप भीतर चलता रहता है। यह जप पहले हृदय में होता है फिर अगली स्थिति में नाभि में और अन्त में मूलाधार में होता है। हृदय जप मध्यमा भूमि में प्रवेश की अवस्था है। कहा है कि अन्तर जप ही वास्तविक जप है-

सनियभ्येन्द्रियग्रामं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम्।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु ब्राहयजपो जप।।

मन्त्र जप के साथ मन्त्रार्थ भावना भी आवश्यक है। इसीलिए योगदर्शन में कहा है- तज्जपस्तदर्थभावनम्। आन्तर जप के प्रभाव से धीरे-धीरे माया का आवरण क्षीण होता जाता है और साधक प्रकृति तथा पूरूष की अर्थात शक्ति और शिव की अभिन्नता को अनुभूति करने लगता है।

इस प्रसंग में कुण्डलिनी के विषय में भी स्वल्प चर्चा समीचीन होगी। वैदिक साहित्य, बौद्ध जैन ग्रन्थों तथा योगशास्त्र में कुण्डलिनी का उल्लेख नहीं है। संभवतः हठयोग और अक्षर उपासना के साथ इसकी खोज प्रारम्भ हुयी थी। आधार शक्ति का दूसरा नाम है कुण्डलिनी। यह सब पदार्थों में आश्रय सत्ता के रूप में विद्यमान रहती है। और जाग्रत होने पर वह निराधार होकर शुद्ध चैतन्य में स्थित हो जाती है। तब उन पर आश्रित सारी वस्तुयें भी चैतन्य रूप धारण कर लेती है। कुण्डलिनी का जागरण क्रम से होता है। कर्म, ज्ञान और भक्ति आदि इसकी क्रमिक अवस्थाये है। जागरण पूर्ण हो जाता है तब पूर्ण अद्वैत तत्व की सिद्धि होती है। तन्त्र शास्त्र में यह पूर्ण अर्हता की स्थिति कही गयी है। ज्ञानयोगी बिना कुण्डलिनी के जागरण के भी ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है किन्तु हठयोग में कुण्डलिनी के द्वारा ही ज्ञान की उपलब्धि हो पाती है और इसके उद्बोधन के बिना ऊध्वगति नहीं होती। कुण्डलिनी के उद्बुद्ध होने पर साधना की समाप्ति हो जाती है। इसलिये कुण्डलिनी का जागरण, जो सर्पाकार है

और मूलाधार में स्थिर है, तन्त्र साधना और हठ योग का प्रमुख लक्ष्य है। जैसे-जैसे कुण्डलिनी जाग्रत होती जाती है वैसे-वैसे इडा और पिंगला का प्रवाहमान स्त्रोत सूक्ष्म होता जाता है और सुषुम्ना के मार्ग में प्रवेश करता है। जीव की शक्ति को इसी रूप में वज्रा और चित्रिणी नाड़ियों को भेदकर अन्त में ब्राह्मनाड़ी में गमन करना होता है। जिसे आनन्दमय कोश कहते है। यही ऐश्वर्य अवस्था है और जब आनन्दमय कोश की ओर भी ध्यान नही रह जाता तो गुणातीत परम साम्यावस्था की प्राप्ति होती है, यही उपशम की अवस्था है जिसे शास्त्रों ने निर्वाण पद भी कहा है।

तान्त्रिक आचार्य शिव, शक्ति और बिन्दु इस त्रिरत्नी को सारे तत्वों का उपादान मानते है। कार्यात्मक जगत् का कर्ता शिव, करण शक्ति और उपादान बिन्दु है। बिन्दु का ही दूसरा नाम महामाया है। बिन्दु ही क्षुब्ध होकर शुद्ध देह, इन्द्रिय और भोग के रूप में परिणत होता है। इस प्रसंग में लिंग और योनि का उल्लेख भी प्रायः किया जाता है। इनका स्वरूप जानना आवश्यक है। सृष्टि की बीजावस्था में प्रकृति और पुरूष अभिन्न रूप में विद्यमान रहते हैं किन्तु सृष्टि की आदि अवस्था में दोनों पृथक् रूप में उपलब्ध होते है। आदि शक्ति इन दोनों की मूल अवस्था है जिसे ईश्वर भी कह सकते है और महाशक्ति भी। यह अव्यक्त अवस्था है। सृष्टि का बीज होने पर भी यह सृष्टि से अतीत, प्रपंचरहित, निःस्पन्द शिवमान है। प्रकृति और पुरूष अभिन्न होते हुये भी भिन्न और भिन्न होते हुये भी अभिन्न है। इसे अव्यक्त या अलिंग अवस्था कहते है। लिंग का अर्थ है परिचायक चिन्ह। अव्यक्त अव्यस्था में जो ज्योतिर्मय तत्व आविर्भूत होता है। वह उस स्थिति का परिचायक होता है। इसीलिये उसे लिंग कहते है। लिंग और योनि में आधाराधेय भाव सम्बन्ध है। साम्यावस्था में तो द्वैतभाव रहता नही किन्तु जहाँ द्वैतभाव प्रकाशित है वहाँ इनमें एक के बिना दूसरे की कल्पना नही की जा सकती । तन्त्रशास्त्र में योनि को त्रिकोण रूप से और लिंग को उसके मध्य में बिन्दु रूप से प्रदर्शित किया जाता है। त्रिकोण की

तीन रेखायें बिन्दु का आवरण मानी जाती हैं क्योंकि कम से कम तीन रेखाओं के बिना किसी वस्तु का वेष्टन संभव नही है। त्रिकोण अधोमुख भी होता है और ऊध्व मुख भी। किन्तु बिन्दु स्थिर रहता है- स्थाणु। जब ऊध्व त्रिकोण और उसका बिन्दु विक्षुब्ध होता है तो अधोमुखी शक्ति की धारा निकलती है। यह सृष्टि की अवस्था है। और जब अधोमुख त्रिकोण और बिन्दु विक्षुब्व होते है तो उस बिन्दु से ऊध्वमुखी धारा प्रवाहित होती है, यह संहारावस्था है। सृष्टि और संहार दोनों परस्पर अनुस्यूत हैं और दोनों के ही मूल में लिंग एवं योनि का परस्पर सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार बिन्दुयुक्त त्रिकोण मायासहित ईश्वर अथवा शक्तियुक्त शिव का दूसरा नाम है। वैष्णव तन्त्र में इसे विष्णु और माया कहते है और माया के विष्णु, माया, महामाया, योगनिन्द्रा आदि कई नाम है।

तन्त्र ग्रन्थों एवं शैव और शाक्त पुराणों में शिव और शक्ति (काली, कामाख्या, त्रिपुरा आदि) के ध्यान और पुजन का बहुत विस्तार से ब्योरेवार वर्णन है। कालिकापुराण में कहा है कि ध्यान से शिव को प्रसन्न करने में देर लगती है किन्तु यदि साथ-साथ पूजन भी किया जाय तो वे शीघ्र प्रसन्न होते है-

चिरात् प्रसीदतिध्यानान्नचिराद्ध्यान-पूजनात् । का. पु. 51।123

शिव पंचानन है, उनके पाँच मुख होते है। कहा है-

सद्योजातं वामदेवमघोरं च ततः परम् ।
तत्पुरूषं तथेशानं पञ्चवक्त्रं प्रकीर्तितम्।।का. पु. 51।142

और पूजन के मन्त्र भी पाँच प्रकार के होते है- सम्मद, सन्दोह, नाद, गौरव और प्रासाद। इनमें एक-एक मन्त्र से एक-एक मुख अथवा पाँचों मन्त्रों से एक साथ पंचमुख शिव की पूजा की जाती है। शिव के मुखों में सद्योजात-स्फटिक से समान शुक्ल होता है। वामदेव सौम्य और पीतवर्ण, अघोर भयंकर दन्तयुक्त नीलवर्ण, तत्पुरूष दिव्य-मनोहर एवं रक्त वर्ण तथा ईशान सदा शिव एव श्यामलवर्ण होता है। इनमें पहला मुख पश्चिम में, दूसरा उत्तर में, तीसरा दक्षिण में, चौथा (तत्पुरूष) पूर्व में और पाँचवाँ मध्य में माना जाता है। शिव, शक्ति,

त्रिशूल एवं खटवांग धारण किये अभय तथा वरदान की मुद्रा में रहते है। उनके हाथों में अक्षमाला बीजपूर, भुजग, डमरू तथा उत्पल रहते है। जिन पाँच मन्त्रों से शिव की पूजा की जाती है उनमें प्रासाद सर्वश्रेष्ठ है। शिव का पंचाक्षर मन्त्र है "ॐ नमः शिवाय" इसका जप, एवं उनक स्वरूप का ध्यान करने के बाद गणेशादिक द्वारपालों की पूजा और पंचभूतों की विशुद्धि, फिर अलग-अलग नाम लेकर अष्टमूर्तियों और उनके आसनों की पूजा और हृदय से भी भाव आदि अष्ट पुष्पों का अर्पण फिर नाराच मुद्रा के द्वारा तांडव और धेनु मुद्रा दिखाकर विसर्जन। शम्भू की प्राप्ति के लिये साथ में आठ देवियों की भी पूजा विहित है। ये आठ देवियां है- बाला, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, कलविकरिणी, बलप्रमथिनी, दमनी और मनोन्माथिनी। इसके साथ ही जिन आठ नामिकाओं और अष्ट भैरवों की पूजा का विधान है उनके नाम निर्वाण तन्त्र में इस प्रकार है-

मंगला विजया भद्रा जयन्तीच पराजिता।
नन्दिनी नारसिंही च वैष्णवीत्यष्ट नायिकाः।।
असितांगोरुरूश्चण्डः कोधोन्मत्तोभयंकरः।
कपाली भीष्णश्चैव संहारीत्यष्टभैरवाः।। 8/134-35

शाक्त तन्त्रों में इसी प्रकार काली या कामाख्या की पूजन-विधि वर्णित है। विविधतन्त्र ललितकान्ता, धूमावती, तारा आदि दवियों के पूजा-विधान का सविस्तार वर्णन करते है। वैदिक कर्मकाण्डों के समान यह विधि भी काफी जटिल है। तन्त्रों में मन्त्र, तन्त्र, जप, होम, कलच, मुद्रा, धूप, दीप, गन्ध, नैवेद्य और बलि आदि की चर्चा विशद रूप से मिलती है। आराध्य के प्रसाद या सिद्धि का भी निरूपण विविध रूपों में हुआ है जिसकी सामान्य पहचान यों है-

चित्तप्रसादो मनसश्च तुष्टिरल्पाशिता स्वप्नपराड् मुखत्वम्।
स्वप्नेषु यानाद्युपलम्भनं च सिद्धेस्तु चिन्हानि भवन्ति सद्यः।।

नारद पांचरात्र आदि में मन्त्र सिद्धि और उसके मार्ग में आने वाले विघ्नों का पर्याप्त विवरण मिलता है।

तान्त्रिक साधना का इतिहास वैदिक मन्त्रों की रचना से भी पुराना है। भारत में सदा और सर्वत्र किसी न किसी रूप से तन्त्र का प्रचार रहा है। आज की भारत में तन्त्र सम्बन्धी विपुल साहित्य उपलब्ध है जिसका बहुत बड़ा भाग अभी तक अप्रकाशित है।

ई. 3/73 महावीर नगर, भोपाल

गोस्वामी तुलसीकृत रामचरित में मानस-तत्व

डॉ0 रामनारायण दास

ऋषियों ने रामकथा को संस्कृतवाङ्मय में श्लोकबद्ध कर उसे महाकाव्य का स्वरूप प्रदान किया और उसका नाम रामायण रखा। वाल्मीकीय रामायण, आनन्द रामायण, अध्यात्म रामायण, अन्य भाषाओं में भी जो श्रीराम कथा लिखी गयी, उसका नाम रामायण रखा। मलयालम भाषा में किलपाट अध्यात्म रामायण, तमिल भाषा में कम्ब-रामायण। किन्तु गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्वरचित श्रीराम कथा का नाम रामचरितमानस रखा। हृन्मानसं मनः अमरकोष के अनुसार मानस शब्द का अर्थ हृदय होता है। श्री तुलसीदास जी द्वारा लिखी गयी रामकथा श्री रामचरित का हृदय है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार हम रामचरित मानस शब्द में षष्ठी तत्पुरुष समास स्वीकार करते हैं। रामस्य चरितम् रामचरितस्य मानसम् रामचरितमानसम्। हिन्दी 'भाषा में श्रीराम के चरित का हृदय' यह अर्थ होता है। रामचरित शब्द मानस का विशेषण है। मनस् शब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय[1] करने पर मानस शब्द व्युत्पन्न होता है। यदि हम मानस शब्द को रामचरित का विशेषण मानते हैं तो 'मनसि भवं[2] मानसम् अथवा मनसा निर्वृत्तम् मानस शब्द की यह व्युत्पत्ति होती है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार मानस शब्द का अर्थ मन के द्वारा निर्मित अथवा 'मनसे हित[3] मानसम्' यह भी व्युत्पत्ति शास्त्रीय है। मानस शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार हम 'रामचरित मानस' में कर्मधारय समास स्वीकार करते हैं। 'मानसं रामचरितं यस्मिन् इस विग्रह में बहुब्रीहि समास होने पर 'वाहिताग्न्यादिषु' से मानस शब्द का प्रयोग हुआ है।

'रामचरितमानस' यह नाम यथार्थ है। इसमें अर्थवाद लेशमात्र भी नहीं है। मानस शब्द की जितनी व्युत्पत्तियाँ मैंने शास्त्रीय प्रमाणों के द्वारा की है, वे श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास जी को अभीष्ट हैं। बहुत सी चौपाइयों के साथ मानस

शब्द की व्युत्पत्ति से उपलब्ध अर्थों की संगति हैं तुलसीकृत श्रीराम कथा रामचरित का हृदय है अर्थात् श्रीरामचरित का सार है। रामायण की संख्या सैकड़ों करोड़ है। गोस्वामी जी ने बालकाण्ड के प्रारम्भ में कहा है-

नाना भाँति राम अवतारा। रामचरित शत कोटि अपारा।।

रामचरित सौ करोड़ हैं और उनमें अपार कथायें हैं। उन कथाओं में जो सार भूत तत्व है, और जो "कीरति भणिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सव कहँ हित होई"।। के अनुसार देश काल के अनुसार प्रत्येक जन एवं समाज के लिये हितकर है, उसी को कवि सम्राट श्री गोस्वामी जी ने भाषाबद्ध किया है। श्री रामचरित के प्रारम्भ में ही वे कहते हैं।

नानापुराणनिगमागम सम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-भाषानिबद्धमतिमञ्जुलमातनोति।।

अनेक पुराणों वेदों शास्त्रों से सम्मत रामायण में जो कुछ कहा गया है और कहीं-कहीं अन्यत्र भी जो कुछ कहा गया है, उसी का स्वान्त स्वरूप (अर्थात् सार रूप) लेकर अपने अन्तःकरण के सुख के लिये मैं (तुलसीदास) श्री रघुनाथ जी की कथा रूप अत्यन्त सुन्दर ग्रन्थ की रचना करता हूँ।

गोस्वामी तुलसीदास जी का श्रीराम रामचरित मानस समस्त संस्कृत वाङ्मय का सार है। जनश्रुति है कि काशी में श्री विश्वनाथ जी के मन्दिर में मानस ग्रन्थ की परीक्षा की गयी। श्री काशी विश्वनाथ जी के मन्दिर में श्रीरामचरित मानस के ऊपर क्रमशः वेद-उपनिषद् शास्त्र, पुराण रखकर सायंकाल बन्द कर दिया गया। प्रातःकाल मन्दिर खुलने पर श्रीरामचरित मानस सब के ऊपर रखा हुआ पाया गया और उस पर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' इन शब्दों में श्री शंकर जी की संस्तुति लिखी हुई दिखा। अतः मानस ग्रन्थ वेदादि का सार है।

शतकोटि श्रीरामचरित का सारतत्त्व श्रीराम नाम है। गोस्वामी जी कहते हैं-

ब्रह्म राम ते नाम बड़, वरदायक वरदान।

रामचरित शत कोटि मँह, लिय महेश जिय जानि।। बालकाण्ड

श्री शंकर जी ने श्रीराम नाम को अपने हृदय से निर्गुण ब्रह्म और श्रीरामचन्द्र जी से भी बड़ा और वर देने वाले को भी वरदायक समझा। अतः शतकोटि श्रीरामचरित से श्री रामनाम को निकाला है। इस श्रीराम नाम का माहात्म्य श्री गोस्वामी जी ने बालकाण्ड के प्रारम्भ में मुक्तकण्ठ से गाया है-

बन्दऊँ रामनाम रघुवर के। हेतु कृशानु भानु हिमकर के।।

अतः तुलसीकृत श्रीरामचरित अन्य श्रीराम चरितों का मानस है। इसके अतिरिक्त रामचरित को मानस-संज्ञा देने के अन्य भी बहुत से महत्वपूर्ण कारण है। श्री तुलसीकृत जो राम गाथा है, उसकी रचना सबसे पहले श्री शंकर जी ने की और बहुत दिनों तक उसे अपने मन में रखा, किसी से कहा नहीं, सुअवसर पाकर इसे पार्वती जी से कहा। इसलिये शंकर जी हृदय से विचार कर इसका सुन्दर 'श्रीरामचरितमानस' नाम रखा। भक्तों को सुख देने वाली उसी कथा को श्री गोस्वामी जी ने कहा और उसे लिपिबद्ध किया- श्री मानस के बालकाण्ड में इस बात का उल्लेख है-

रचि महेश निज मानस रखा। पाइ सुसमय शिवासन भाखा।।
ताते रामचरित मानस वर। धरेहु नाम हिय हेरि हरषि हर।।
कहौं कथा सोई सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई।।

इस श्री रामचरित को सुनने से कानों को आराम मिलता है और मन को अच्छा लगता है। इसलिये इसका नाम मानस रखा।

रामचरित मानस यह नामा। सुनत श्रवण पाइय विश्रामा।
मनकर विषय अनल वन जरई। होइ सुखी जो यहि सर परई।।
रामचरित मानस मुनि भावन। विरचेउ शम्भु सुहावन पावन।
त्रिविध दोष दुःखदारिद दावन। कलि कुचालि कलि कलुष नसावन।

(बालकाण्ड)

यह श्री रामचरित सम्पूर्ण रोगों व दरिद्रता का नाश कर मन को विश्राम देता है विविध कोशों के प्रमाणों के अनुसार मानस शब्द मानसरोवर का भी वाचक है। मानसरोवर काह निर्माण ब्रह्मा ने मन से किया। इसलिये उस सरोवर को मानस कहते है। तुलसीकृत श्रीरामचरित मानसरोवर से सरयू जी निकली, और उसके पावन तट पर श्रीराम जन्मभूमि अयोध्या नगरी बसी हुई है। गोस्वामी जी ने स्वविरचित श्रीरामचरित ग्रन्थ को मानसरोवर के रूप में वर्णन किया है। रामचरित मानस अर्थात् रामचरित रूपी मानसरोवर। मानसरोवर के जो गुण व आकार-प्रकार हैं, वे सब इस श्रीरामचरित काव्य में घटित हैं।

जैसे- शम्भु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी।।
करऊँ मनोहर मति अनुहारी। सृजन सुचित सुनि लेहु सुधारी।।
सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। वेद पुराण उदधि धन साधू।।
वरषहिं राम सुयश वखारी। मधुर मनोहर मंगलकारी।।
लीला सगुण जे कहहिं बखानी। सोई स्वच्छता करै मलहानी।।
प्रेम भक्ति जो वरणि न जाई। सोइ मधुरता सुशीतलताई।।
दोहा- सुठि सुन्दर सम्वाद वर, विरचेउ बुद्धि बिचारि।
तें यहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि।।47।।

सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना।। रघुपति महिमा अगुण अवाधा। वरणव सोइ वरवारि अगाधा।। जिन्होंने सत्संग नहीं किया व श्रद्धा का आश्रय नहीं लिया, जिनको श्री रघुनाथ जी प्रिय नहीं है, उनके लिये श्रीरामचरित मानस रूपी मानसरोवर अत्यन्त दुर्लभ है।

दोहा- जे श्रद्धा सम्बल रहित, नहिं सन्तन कर साथ।
तिनकहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ।।49।।

इस तरह के मानसरोवर का दर्शन, चर्म चक्षुओं से असम्भव है, किन्तु इसे देखने के लिये हृदय नेत्र चाहिये।

अस मानस-मानस चखु चाही। भइ कवि बुद्धि विमल अवगाही।।

यह श्रीरामचरित उपर्युक्त मानसरोवर के समान है, इसलिये गोस्वामीजी ने स्वविरचित रामचरित को मानस कहा। मानस संज्ञा देने में इसके अतिरिक्त एक अन्य कारण है। जैसे मानसरोवर से सरयू जी का प्रादुर्भाव हुआ उसी प्रकार से तुलसीकृत श्रीरामचरित का मूल शिव विरचित श्री रामचरित मानस है। बालकाण्ड में श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि मानसरोवर का दर्शन हृदय नेत्र से होता है जिसमें स्नान करने से कवि तुलसी की बुद्धि निर्मल हो गई। हृदय में आनन्द और उत्साह बढ़ गया, प्रेम और आनन्द का प्रवाह उमड़ पड़ा, जिससे सुन्दर कविता रूपी नदी बह चली, जो श्रीराम के विमल यश रूपी जल से भरी है। उस कविता रूपी नदी का नाम सुमंगलों का मूल सरयू है। लोकमत और वेदमत उसके सुन्दर दो किनारे हैं। रामचरित मानस से निकली यह कविता रूपी नदी पवित्र और मन को आनन्द देने वाली तथा किनारे पर स्थित कलिमल रूपी तृण और वृक्षों को उखाड़ फेकने वाली है। इस कवितारूपी सरयू नदी मूल मानसरोवर अर्थात् श्री रामचरितमानस है और गंगा जी में जाकर मिली है। जो सुनने मात्र से सज्जनों के मन को पवित्र करती है।

मानस मूल मिली सुरसरिहीं, सुनत सुजन मन पावन करिहीं।।

शिव विरचित जो श्रीरामचरित मानस है वह मानसरोवर है, उसी से तुलसीकृत श्रीराम कविता रूपी सरयू निकली। तुलसीकृत श्रीरामचरित का मूल शिव विरचित रामचरित मानस है, अतः तन्मूलक होने से गोस्वामी जी ने स्वविरचित श्रीदामचरित का नाम रामचरित मानस रखा। रामचरितमानसाद् आगतम् प्रभवित वा' इस विग्रह में रामचरित मानस शब्द से ''तत् आगत'' पा. सू.4।3।74 युद्वा 'प्रभावित 4।3।83' से अण् प्रत्यय करने पर निष्पन्न रामचरित मानस शब्द तुलसीकृत रामचरित मानस का वाचक है। अण प्रत्यय रहित शिव् विरचित रामचरित मानस का वाचक है। जिन अर्थों में कवि तुलसी

ने मानस शब्द का प्रयोग किया है, वे सब शास्त्रीय है। श्री कविवर तुलसी जी केवल कवि नहीं, प्रत्युत एक शास्त्रीय विद्वान् भी थे।

तुलसीकृत श्रीरामचरित मानस निर्मूल एवं अप्रमाण नहीं है किन्तु शिव विरचित मानस उसका मूल है, वेदादि का सार है। इसलिये सप्रमाण एवं समूल है। श्रीरामचरित मानस की एक परम्परा है, जिसे गोस्वामी जी ने स्वतः कहा है-

शम्भु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा उमहि सुनावा।।
सोइ शिव काग भुशुण्डिहि दीन्हा। राम भक्ति अधिकारी चीन्हा।।
तेहि सन याज्ञवल्क्य मुनि पावा। तिन्हपुनि भरद्वाज प्रति गावा।।
ते श्रोता वक्ता समशीला। समदरसी जानहिं हरिलीला।।
दोहा- मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं बस बालपन, तब अति रहेउ अचेत।।

गोस्वामी जी ने स्वविरचित रामचरित को मानस क्यों कहा और उसकी परम्परा क्या है? मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार लिपिबद्ध किया।

संदर्भ :

1. प्रज्ञादिभ्यश्च, पा0सू0 5/4/38 तेन निर्वृत्तम पा0सू0।
2. तत्र भवः, पा0सू0।
3. शेषे पा0सू0ए उक्त सूत्र से मनस् शब्द से अण् प्रत्यय।
4. स्वान्त शब्द में हम तन्त्र स्वीकार करते हैं।

।। इति श्री हरिः शरणम्।।

रीडरः व्याकरण
गुरूवायूर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्
पो0.पुरनाट्टुकरा-त्रिचूर, केरल

संस्कारों की उपादेयताः एक समीक्षात्मक विवेचन

प्रो० बी०आर० यादव

आचार्य एवं अध्यक्ष, बौद्ध अध्ययन विभाग एवं संकायाध्यक्ष, मानविकी,
मगध विश्वविद्यालय बोधगया

स्नेहा

शोध छात्रा, दर्शन विभाग,
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

सारांशः–

संस्कार हिन्दू धर्म का सर्वोत्कृष्ट धार्मिक कार्य है, इससे व्यक्तियों के आचरण का परिशोधन होता है जिससे मनुष्य एक सुसंस्कृत सामाजिक प्राणी बनता है। इसी के द्वारा सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिस्थापना होती है। वस्तुतः संस्कार व्यक्ति में सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यक्तित्व को विकसित करने का प्रमुख आधार है। इसलिए कहा जा सकता है कि हिन्दू संस्कार जीवन को व्यवस्थित करने में महत्वपूर्ण योगदान देता है। यद्यपि यह ठीक है कि संस्कारों में निहित रूढ़िवादिता, कर्मकाण्डों की प्रधानता संस्कारों की वास्तविक भूमिका के लिए हानिकर है। फिर भी आज के संदर्भ में समाज एवं व्यक्ति के व्यक्तित्व को संस्कारित बनाने में संस्कारों की अहम् भूमिका है। परिमार्जित ही सही, आज भी समाज में संस्कारों की मान्यता हैं।

विवरण :–

विश्व के सभी धर्मों में कुछ न कुछ तत्त्व ऐसे होते हैं जो उनके अनुयायियों को एक सूत्र में बांधे रहते हैं तथा उनको उस धर्म के अनुकूल बनाते हैं। उन्हीं तत्त्वों के आधार पर उन व्यक्तियों को उस धर्म का अनुयायी मानते हैं। यद्यपि कालान्तर से उनमें उतार–चढ़ाव आता रहता है; परन्तु उनका आधार वही रहता है। जैसे ईसाई धर्म का अनुयायी होने के लिए ईसा मसीह के उपदेशों को मानना, उन उपदेशों के अनुकूल आचरण करना, न्यूटेस्टामेन्ट और ओल्ड टेस्टामेन्ट को पढ़ना, जन जन को ईश्वर समझना, उनकी सेवा करना आदि। इसी प्रकार इस्लाम धर्म का अनुयायी होने के लिए अल्लाह की सत्ता में विश्वास करना, कुरान के बताये हुए नियमों के अनुसार आचरण करना, दान

देना, खतना कराना, इबादत अर्थात् नमाज पढ़ना आदि। इन्हीं धर्मों के अनुसार सनातन धर्म में भी अनेक प्रकार के नियम–परिनियम बनाये गये हैं। उन नियमों के अनुपालन से ही व्यक्ति इस धर्म का अनुयायी होता है।

सनातन अर्थात् हिन्दू धर्म के अनेक नियमों में से एक नियम संस्कार भी है। संस्कार हिन्दू धर्म का एक बहुत ही महत्वपूर्ण धार्मिक कृत्य है। यह एक सामाजिक नियम भी है, जो व्यक्तियों के आचरण के परिशोधन के साथ–साथ एक सूत्र में बांधने का कार्य करता है। यह संस्कार भारत में आदिकाल से आरम्भ होकर आज भी अपने सांस्कृतिक मूल्यों के साथ प्रतिस्थापित है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार सनातन धर्म अनादि और अनन्त है उसी प्रकार यह संस्कार नियम भी अनादि एवं अनन्त है।

जिस प्रकार भारत के सभी धर्मों ने सामाजिक एवं धार्मिक एकता स्थापित करने के लिए अनेक नियम विकसित किये हैं। उसी प्रकार हिन्दू धर्म ने भी सामाजिक एवं धार्मिक एकता स्थापित करने के लिए संस्कार नियम का निर्माण अति प्राचीन काल में ही किया है। इन्हें जीवन–दर्शन एवं नैतिक मूल्यों के आधार के रूप में आज भी देखा जाता है। यह एक अलौकिक विश्वास के साथ–साथ जीवन की एक विधि है जो प्रत्येक व्यक्ति को एक विशेष परिस्थिति में अपने कर्त्तव्यों का बोध कराती है। वस्तुतः संस्कार भारत में सांसारिक और पारमार्थिक जीवन के बीच समन्वय स्थापित करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। प्रत्येक संस्कार जहाँ एक ओर विभिन्न अवसरों पर सामाजिक कर्तव्यों का बोध कराते हैं, वहीं दूसरी ओर जीवन को प्रभावित करने वाली विभिन्न अलौकिक शक्तियों को प्रसन्न करने का प्रयत्न भी करते हैं। डॉ० राजबली पाण्डेय ने लिखा है[1] कि सभी हिन्दू संस्कार व्यक्तियों का समाजीकरण करने तथा उसके सामाजिक व्यक्तित्व को विकसित करने के प्रमुख आधार रहे हैं। इनकी सामाजिक अनिवार्यता को स्पष्ट करने के लिए ही इन्हें धार्मिक स्वरूप दिया गया। वास्तव में, सामजिक जीवन में विभिन्न संस्कारों का कार्य मानव जीवन के परिष्कार और शुद्धिकरण में सहायता पहुँचाना, व्यक्तित्व के विकास को सुविधाजनक बनाना, मानव शरीर को पवित्र बनाना, मनुष्य की सभी भौतिक और आध्यात्मिक अकांक्षाओं को प्रेरणा देना तथा सामाजिक समस्याओं का समाधान करके आनन्द पूर्वक मुक्ति के लिए तैयार करना रहा है। अतः संस्कार की महनीयता आज की समाज के लिए समीचीन है। इसकी उपादेयता को विविध रूप में समझा जा सकता है।

संस्कार और धर्म में महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। बल्कि यों कहें कि संस्कार भी धार्मिक अनुष्ठान हैं। सभी संस्कारों में धार्मिक कृत्य अनुस्यूत हैं। प्रत्येक संस्कार के आयोजन में जीवन के महत्वपूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कुछ न कुछ धार्मिक गति विधियों का विधान किया गया है। ये ही विधान जब अनुष्ठान का रूप धारण करते हैं तब उन्हें संस्कार कहते हैं प्रत्येक संस्कार अपने आरम्भिक काल में व्यक्तिगत् व्यावहारिक रूप से उपयोगी होते हैं। किन्तु धीरे–धीरे वह सामाजिक रूप धारण कर लेते है। परन्तु जब व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल जाता है तब वे संस्कार व्यक्ति के लिए अनुपयोगी एवं असंग प्रतीत होने लगते हैं। यही कारण है कि आज बहुत सारे संस्कार समाज से लुप्त हो गये हैं। यद्यपि उनका लुप्त होना समाज के लिए हितकर नहीं रहा है; क्योंकि आज समाज कुछ इन्हीं कारणों से विखरता जा रहा है और समाज से शिष्टाचार, भाईचारा, सहानुभूति, सौहार्द गायब हो रहे हैं। धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक हिन्दू लिए संस्कार बहुत ही महत्वपूर्ण है; क्योंकि वह व्यक्ति की त्रुटियों, दोषों और विकारों को दूर करके उसके जीवन को निर्मल, स्वच्छ तथा सुसंस्कृत बना देते हैं। वेद मानता है कि जन्म के समय मनुष्य शूद्र होता है अर्थात् वह सभी अच्छे गुणों से हीन होता है, उस समय उसका जीवन पूर्णतः अशुद्ध होता है। संस्कार उसके जीवन को संस्कारित करके स्वच्छ मल रहित द्विज रूप बना देते हैं। स्मृतियों का मानना है कि संस्कार ही मनुष्य को शूद्र से द्विज बनाते हैं। इसीलिए वीर मित्रोदय[2] कहता है कि 'संस्कार वह विशेष क्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति में अनेक शारीरिक और अन्य विलक्षण गुणों का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि सभी प्रकार के धार्मिक कृत्य, अनुष्ठान संस्कार नहीं होते हैं और न वे मनुष्य को संस्कारित बनाते हैं। बहुत से ऐसे धार्मिक कृत्य हैं जो बाह्याडम्बर मात्र हैं। वे किसी दूसरे का भरण–पोषण अवश्य करते हैं। परन्तु संस्कृति या संस्कार के विकास में सहायक नहीं होते हैं। किसी की जीविका के संसाधन अवश्य होते हैं। उनके द्वारा अनुष्ठानकर्त्ता अर्थात् पुरोहित की आजीविका चलती है; परन्तु उससे यजमान का कोई लाभ नहीं होता है। आज के परिवेश में ऐसे अनेक कृत्य समाज में देखने को मिलते हैं। इस बात की तरफ संकेत करते हुए डॉ० राजबली पाण्डेय ने लिखा है कि 'साधारणतया संस्कार का अभिप्राय कुछ बाह्य धार्मिक क्रियाओं, अनुष्ठानों, व्यर्थ के आडम्बरों, कोरे कर्मकाण्डों तथा अनुशासन पूर्ण व्यवहारों से समझ लिया जाता है, यद्यपि इनमें से कोई भी क्रिया अथवा चलन संस्कार के अर्थ को स्पष्ट नहीं करता है।[3]

वस्तुतः सभी धार्मिक कृत्यों, अनुष्ठानों का सम्बन्ध संस्कार से नहीं होता है। संस्कार के अन्तर्गत् इन्हीं धार्मिक क्रियाओं, अनुष्ठानों को रखा जाता है जो धार्मिक विधि–विधान, आन्तरिक तथा बाह्य सौन्दर्य के प्रतीक होते हैं।

संस्कार पवित्रता, शुद्धता तथा योग्यता के प्रतीक होते हैं। महाराज मनु ने कहा है कि द्विजातियों के बीज तथा गर्भ से उत्पन्न पाप सभी गर्भ के समय किये गये हवन आदि के द्वारा शान्त हो जाते हैं और जन्म लेने के पश्चात् जो जात कर्म, चौलकर्म आदि संस्कार किये जाते हैं उससे बालक पूर्णतः पवित्र हो जाता है।[4] याज्ञवल्क्य स्मृति भी कहती है कि बीज, गर्भ आदि में उत्पन्न सभी पाप बच्चे के जन्म के पश्चात् किये गये संस्कारों द्वारा शान्त हो जाते हैं–

'एवमेनः शमं याति वीज गर्भ समुद्भवम्'[5]

याज्ञवल्क्य के श्लोक 13 की टीका करते हुए स्पष्ट किया गया है कि मिताक्षराकार पानी अथवा अपवित्र माता–पिता से उत्पन्न बालक की शुद्धि के लिए संस्कार आयोजित करने की आवश्कता नहीं होती है अपितु संस्कार आयोजित करने का उद्देश्य है; कि माता–पिता में जो को शारीरिक व्याधि आदि है वह बालक में न आ जाय, बस इस, आवश्यकता की पूर्ति हेतु संस्कारों का आयोजन किया जाता है।[6] किन्तु इसके विपरीत कुछ आचार्यों का मानना है कि संस्कारों के आयोजनों से चाहे गर्भ के पापों का शमन हो या माता–पिता के शरीर में निहित बीमारियों से बालक को निजात मिले, पर इतनी बात अवश्य है कि प्रथमआठ संस्कारों के आयोजन से बालक पवित्र एवं शुद्ध हो जाता है।[7] इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह संस्कारों की बहुत बड़ी उपयोगिता है।

उपनयन आदि संस्कारों से सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक आशय की पूर्ति होती है। जो वेद आदि के अध्ययन का मार्ग खोलकर व्यक्ति को धार्मिक विकास का अवसर प्रदान करता है। संस्कारों के आयोजन का उद्देश्य ही है मानव जीवन से विभिन्न प्रकार की बाधाओं और विध्नों को दूर करना संस्कारों में हवन और अग्नि की अहम् भूमिका होती है। देवताओं का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए यज्ञ किया जाता है। संस्कार के समय पूरव की ओर मुँह करके पूजा, प्रार्थना के द्वारा अशुभ के विनाश और शुभ के लिए मंगल कामना की जाती है। श्री काणे ने तो यहाँ तक कहा है कि संस्कारों की मनोवैज्ञानिक उपयोगिता है। संस्कार युक्त हो जाने के बाद व्यक्ति अपनी विशिष्टता को समझ कर सम्पादित नियमों का अनुपालन करने के लिए स्वतः तत्पर रहता है।

उत्सवों के प्रति रूचि होना मानव का स्वभाव है। नाचना, गाना, आनन्द मनाना आदि हृदय के स्नेह और उमंग के परिचायक हैं। नामकरण, अन्नप्राशन आदि संस्कारों में नाचना, गाना, उत्तम पकवानों को तैयार कराना और सगे सम्बन्धियों के साथ उत्सव मनाना आदि होता है। इसलिए नाम करण, अन्नप्राशन आदि के आयोजन का यही उद्देश्य माना जा सकता है; क्योंकि इसमें और कोई धार्मिक कृत्य नहीं किये जाते हैं जो भविष्य–जीवन से सम्बन्धित हो।

विवाह भी एक समाज का बहुत बड़ा उत्सव है। इसमें दो व्यक्तियों को विवाह के द्वारा एक में जोड़ना सामाजिक विकास का कारण है।

डॉ० विमल किशोर मिश्र ने संस्कारों के उद्देश्यों को निम्नलिखित 4 वर्गों में विभक्त किया है[8]–

(1) पवित्रता (2) वैदिक अध्ययन, कर्तव्य आदि की उपयोगिता (3) उत्सव के प्रति अभिरुचि (4) सामाजिकता।

संस्कारों का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। माता–पिता तो केवल शरीर का जन्म देते हैं। किन्तु संस्कारों से आत्मा की शुद्धि और उसका समुचित विकास होता है।[9] मनु ने कहा है कि मनुष्य के तीन जन्म होते हैं–

(1) माता से (2) उपनयन के बाद और (3) जब उसे यज्ञ की दीक्षा दी जाय। महर्षि ने कहा है–

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः, संस्कारैद्विजि उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रिया स्त्रिभिरेव हि।।

इसी तथ्य को परासर मुनि एक उपमा देते हुए कहते है कि जिस प्रकार नाना प्रकार के रंगों के प्रयोग से चित्रकला का सौन्दर्य प्रादुर्भूत हो उठता है उसी प्रकार ब्राह्मण विधि पूर्वक किये गये संस्कारों के द्वारा उज्ज्वलतर हो जाता है।[10]

संस्कृति मानव की सबसे बड़ी पूँजी है। संस्कृत से ही मनुष्य एक सामाजिक प्राणी बनता है। यदि मनुष्य से संस्कृति अलग कर दी जाय तो वह मानव मनुष्य न रहकर दो पाया पशु हो जायेगा। कहा भी गया है कि संस्कृति ही है जो मनुष्य को अन्य मनुष्यों से एवं एक समूह को अन्य समूहों से, एक समाज को दूसरे समाज से अलग करती है।[11] यह संस्कृति संस्कार का परिवर्तित रूप है। संस्कृति और संस्कार अनन्यार्थ शब्द है। स्वभावतः मनुष्य पशु अथवा पामर होता है और संस्कार के द्वारा ही सच्ची मानवता वाला संस्कारी पुरुष बनता है। संस्कार बाहरी चमक या पालिस का द्योतक नहीं हैं। वह बाहरी शुद्धि या सफाई से प्राप्त नहीं होता है। वह तो उस हृदय की चमक है जिसके द्वारा

उसका रहन–सहन, भावना, बुद्धि आदि सब कुछ समाज में प्रकाशित हो उठता है, अर्थात् संस्कार मानव के आध्यात्मिक विकास और बुद्धि से प्रकट होता है। उसी संस्कार से युक्त व्यक्ति संस्कारित या सांस्कृतिक या संस्कृत होता है। वस्तुतः संस्कार ही मनुष्य को संस्कृत बनाता है। इसीलिए कहा गया है कि संस्कार मनुष्य को योग्य बना देता है।[12]

''संस्कारों न स भवति यास्मिन्जाते पदार्थो
भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य''।

तन्त्र वार्तिक में भी कहा गया है कि संस्कार वे क्रियायें तथा रीतियाँ हैं जो मानव को योग्यता प्रदान करती है। इसी आशय को ध्यान में रखते हुए संस्कार की परिभाषा करते हुए कहा गया है–

'योग्यता चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते।'[13]

वे योग्यतायें दो प्रकार की होती है–पाप मोचन से उत्पन्न योग्यता, और नवीन गुणों से उत्पन्न योग्यता संस्कारों से नवीन गुणों की उत्पत्ति होती है तथा तप से व्यक्ति सभी प्रकार के पापों तथा दोषों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार संस्कार के आयोजन से इहलोक और परलोक दोनों प्रकार के जीवन के लिए लाभ होता है।

प्राचीन काल से ही हिन्दू समाज में भूत, पिशाच एवं अशुभ शक्तियों की सत्ता को स्वीकार किया गया है। ये शक्तियाँ अपने कुप्रभाव से सदैव अहित करती रही हैं। अतः इनके कुप्रभाव से बचने के लिए एवं इनके पड़े हुए कुप्रभाव को निष्प्रभावी बनाने के लिए देवताओं की दया दृष्टि की अपेक्षा होती है और देवताओं की कृपा दृष्टि प्राप्त करने के लिए उन्हें प्रसन्न करना आवश्यक होता है जिसके लिए कर्मकाण्डों एवं भोजन तथा आहुति देने का आयोजन करना पड़ता है। वस्तुतः सभी संस्कारों के आयोजन के अवसर पर दैवीय शक्तियों को प्रसन्न करने एवं आसुरी शक्तियों के कुप्रभाव से बचने के उद्देश्य से कर्मकाण्ड तथा पूजा का आयोजन किया जाता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि सभी संस्कारों के आयोजनों में देवताओं का आह्वाहन किया जाता है और उनसे सम्बन्धित भोजन तथा हवि प्रदान की जाती है और उनसे आशीर्वाद की अपेक्षा की जाती है। परन्तु प्रत्येक संस्कार के देवता लगभग अलग–अलग है और उनका भोजन तथा हवि भी अलग–अलग हैं। साथ ही, उनसे प्राप्त की जाने वाली पुण्य भी अलग अलग है। जैसे जन्म के समय विष्णु, उपनयन के समय वृहस्पति तथा विवाह के समय प्रजापति ब्रह्मा का आह्वाहन किया जाता है।

अतः प्रत्येक संस्कार का अयोजन उद्देश्यपूर्ण होता है। निस्प्रयोजन कोई भी संस्कार आयोजित नहीं होता है।

संस्कारों के आयोजन का उद्देश्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति है। शांख्यायन गृह्य सूत्र[14] का मानना है कि संस्कार के माध्यम् से जिन देवताओं का आह्वाहन किया जाता है। वे संस्कार के आयोजन में दी गयी आहुति से प्रसन्न होकर हमें हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। सामान्यतः लोग देवताओं का आह्वाहन धन, सम्पत्ति, पशु, सन्तान, दीर्घ–जीवन, समृद्धि, शक्ति और बुद्धि की प्राप्ति हेतु करते हैं। लोगों का विश्वास है कि ये देवता प्रसन्न होकर हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य करेंगे। वस्तुतः प्रायः संस्कार की क्रियाओं का आयोजन अपने भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किया जाता है।

सामान्यतः संस्कारों का आयोजन आत्मानन्द के साथ–साथ समाज के आनन्द, सुख शान्ति के लिए किया जाता है; क्योंकि संस्कारों के प्रभाव से व्यक्ति संस्कारित हो जाता है, अनुशासित हो जाता है। समाज में वह वैसा व्यवहार नहीं करता है जिससे समाज को किसी प्रकार की हानि हो, समाज में व्यक्ति को कष्ट हो। वह सभी के सुखःदुख को बराबर समझने लगता है। वह व्यक्ति संस्कृत हो जाता है।

संस्कारों के आयोजनों से मानव का जीवन पवित्र हो जाता है। शास्त्रों की मान्यता है कि गर्भाधान, जातकर्म, उपनयन आदि संस्कार ऐसे हैं जो मानव–जीवन को पवित्र बनाते हैं। मनुष्य के जीवन का अन्तिम् लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। संस्कार के आयाजनों में पूजा–पाठ यज्ञ आदि धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यों का आयोजन किया जाता है। ये सभी आयोजन मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति में सहायक होते हैं।

संस्कारों का आयोजन मनुष्य के सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन में समन्वय स्थापित करने में सेतु का कार्य करता है। संस्कार पूर्णतः आध्यात्मिक होता है किन्तु यह भौतिक जीवन को संस्कारित करने के लिए आयोजित किया जाता है। तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक अनुष्ठानों के द्वारा भौतिक जीवन में सुधार आता है। इसलिए कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक कृत्य भौतिक कृत्यों से जुड़ा हुआ है। इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि संस्कार भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन में पहुँचने के लिए सोपान है। डॉ0 राजबली पाण्डेय ने लिखा है कि 'संस्कार एक प्रकार से आध्यात्मिक शिक्षा की क्रमिक सीढ़ियों का कार्य करते हैं। उनके द्वारा व्यक्ति यह समझने लगता है कि उसका सम्पूर्ण जीवन

संस्कारमय है और सभी सांसारिक क्रियायें एक आध्यात्मिक उद्देश्य से प्रभावित है। यही वह मार्ग था जिससे सांसारिक जीवन का आध्यात्मिक जीवन से समन्वय किया जा सकता है।'[15]

संस्कार के आयोजनों से समाज का एक सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि व्यक्तियों में नैतिकता की चेतना की वृद्धि होती है। व्यक्ति संस्कारों के द्वारा संस्कारित होता है। जिसके कारण उसके मन में सदाचार के प्रति रूझान बढ़ती है जिसका प्रभाव उसके सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों पर पड़ता है। अतः वह व्यक्ति स्वयं संस्कृत होते हुए अन्य पड़ोसियों को संस्कृत बनाता है और धीरे धीरे पूरा समाज संस्कृत हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक संस्कार से व्यक्ति में नैतिक गुणों का विकास होता है। उन्हीं विकसित गुणों से व्यक्ति अपने हित के साथ साथ समाज के हित में संलग्न रहता है। यह संस्कारों की सबसे बड़ी उपादेयता है।

संस्कार के द्वारा व्यक्ति अपने चरित्र का निर्माण करता है। हिन्दू धर्म में संस्कार व्यक्ति का बालकपन से ही मार्ग दर्शक का कार्य करते हैं। संस्कार ही व्यक्ति को अनुशासित बनाते हैं। संस्कार व्यक्ति को इतना निपुण बना देते हैं कि वह विषम परिस्थितियों में भी उचित निर्णय लेने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार संस्कार व्यक्ति के चरित्र निर्माण में अपना विशेष योगदान देते हैं। डॉ0 रामबली पाण्डेय ने लिखा है कि 'जिस तरह चित्रकला में सफलता पाने के लिए विविध रंगों की आवश्यकता होती है। उसी तरह चरित्र के निर्माण में विभिन्नि संस्कारों की अहम् भूमिका के द्वारा ही होती है।'[16]

विद्वानों का मानना है कि संस्कार मनुष्य के शारीरिक और मानसिक विकास के साधन हैं। वाल्यावस्था से संबंधित संस्कारों का एकमात्र उद्देश्य होता है। बालकों को अपना शारीरिक और मानसिक विकास करने के लिए अवसर देना तथा इसके लिए अनुशासित नियमों को प्रभावपूर्ण बनाना आवश्यक है। यथार्थतः, शारीरिक और मानसिक विकास का संबंध चरित्र को दृढ़ता पर निर्भर है। प्राचीन समाज में शिक्षा के द्वारा चरित्र का विकास करने का कोई धर्मनिरपेक्ष तथा संस्थागत साधन नहीं था। इस दशा में उपनयन, वेदारम्भ तथा समावर्तन के द्वारा ही शिक्षा की एक ऐसी पद्धति को लागू किया गया था। जिसके द्वारा व्यक्ति का शारीरिक तथा मानसिक विकास होता था।

प्राचीन काल में जब स्वास्थ्य विज्ञान का अधिक विकास नहीं था तब यौन–विज्ञान तथा प्रजनन से संबंधित समस्याओं के समाधान हेतु संस्कार ही

उपयोगी सिद्ध होते थे, विशेष रूप से गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, निष्क्रमण संस्कार आदि। इसके साथ ही, शैक्षणिक संस्कारों के द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में उन समस्याओं का समाधान किया गया जो वर्तमान जीवन की प्रमुख समस्यायें बनी हुई हैं। विवाह संस्कार का उद्देश्य था दाम्पत्य जीवन की समस्याओं का समाधान करके पारिवारिक जीवन को अधिक संगठित बनाना। इस संस्कार यह कार्य आज भी समीचीन है। अन्त्येष्टि संस्कार को ऐसा रूप प्रदान किया गया जो पारिवारिक परम्पराओं में आज भी अपना प्रारूप प्रस्थापित किये हुए है। यद्यपि आज इसमें कुछ कुसंगतियां आ गयी हैं। जिसके कारण कहीं कहीं आंशिक अंश से त्याज्य हैं। फिर भी इसका अधिकांशतः पालन होता है और समाज को संगठित बनाये हुए है। इस प्रकार सभी संस्कार मानव जीवन के विकास के लिए एक क्रमबद्ध योजना प्रस्तुत करते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में सभी संस्कारों का विशेष योगदान रहा है। संस्कारों के माध्यम् से बालकों को जो शिक्षा दी जाती है वह केवल पुस्तकीय ज्ञान अथवा केवल धार्मिक शिक्षा तक ही सीमित नहीं रहती है, अपितु उस शिक्षा की प्रकृति सामाजिक, पारिवारिक और नैतिक भी होती है। शिक्षा का मूल उद्देश्य है व्यक्ति को उसके दायित्वों, कर्त्तव्यों एवं नैतिक जिम्मेवारियों का बोध कराना तथा उसके अपने व्यक्तित्व का विकास करना। हिन्दू संस्कार अपने महत्वपूर्ण योगदान द्वारा एक माता, पिता, पुत्र, पुत्री, गृहस्थ, विद्यार्थी आदि के रूप में प्रत्येक व्यक्ति को अनुशासन प्रदान करता है।

हिन्दू संस्कार व्यक्ति को सामाजिक बनाते हैं। संस्कारों के अनुपालन से व्यक्ति सामाजिक मूल्यों को समझने लगता है। उक्त सभी संस्कार माता, पिता तथा बच्चों के बीच मधुर सम्बन्ध को विकसित करते हैं। उपनयन से विवाह तक के सभी संस्कार मानव को शैक्षणिक तथा सामाजिक कर्तव्यों का बोध कराते हैं। संस्कारों द्वारा ही व्यक्ति सीखता है कि समाज उससे किस तरह के व्यवहार की अपेक्षा करता है। अतः सभी सोलहों संस्कार व्यक्तियों के समाजीकरण एवं सामाजिक प्रशिक्षण में अपने आदिम काल से लगे हुए हैं।

यदि हम संस्कारों की भूमिका पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो हम पायेंगे कि जनसाधारण में नैतिक गुणों के विकास और संस्कृति को स्थायी बनाने में उनका विशेष योगदान रहा है। समाज में निहित सांस्कृतिक विशेषताओं का हस्तान्तरण संस्कारों द्वारा ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को होता है। हमारे सभी संस्कार नैतिक और सांस्कृतिक जीवन पर विशेष बल देते हैं। संस्कारों के

माध्यम् से ही नैतिकता और संस्कृति के विशेष गुण यथा– दया, क्षमा, पवित्रता, मानसिक शान्ति, निर्लोभ, समर्पण, ईर्ष्या न करना, परिस्थिति के अनुसार समुचित व्यवहार करना आदि व्यक्तियों में संचरित होते हैं। यह संस्कारों का समाज के लिए विशेष योगदान है।

आध्यात्मिकता के क्षेत्र में भी संस्कारों की विशेष उपयोगिता है। संस्कार यह विश्वास दिलाते हैं कि विश्व में कोई न कोई अदृश्य अद्भुत शक्ति है जो जीवन के हर एक कार्यों को प्रभावित करती है। इसलिए यह आवश्यक है कि उस अदृश्य शक्तियों को सन्तुष्ट करने के लिए एक अनुशासित धार्मिक जीवन व्यतीत किया जाय। वस्तुतः संस्कारों में की जाने वाली क्रियायें धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होती हैं।

अपने आन्तरिक उद्वेगों, मनोदशाओं, भावनाओं को किसी के समक्ष अभिव्यक्त करना मानव का स्वभाव है। इसलिए वह ऐसे अवसरों का आयोजन करता है जहाँ मनुष्य अपने आन्तरिक उद्वेगों को प्रकट करता है और उसमें समाज के सभी लोग सहभागी बनते हैं। इसके लिए हमारे सभी संस्कार अहम् भूमिका अदा करते हैं। इन संस्कारों के आयोजनों में सभी लोग अपनी अपनी आन्तरिक संवेदना व्यक्त करते हैं। संस्कार कभी दया और वात्सल्य के उद्वेग को सन्तुष्ट करते हैं तो कभी हर्ष, आनन्द और करूणा को साकार रूप देते हैं।

इस प्रकार हिन्दू संस्कार भारतीय जीवन को व्यवस्थित बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। परन्तु जब किसी समाज में जब रचनात्मकता समाप्त हो जाती है और प्राचीन तरीकों में परिवर्तन की अनुमति नहीं मिलती है। तब सामाजिक व्यवस्था पतन की ओर जाने लगती है। संस्कारों की व्यावहारिकता में भी ऐसे ही सूत्र कार्य किये हैं। संस्कारों में प्रयुक्त मन्त्रों की कठिन भाषायें, विधि–विधानों की कठिनाईयाँ वर्तमान मनुष्य की समझ से परे है। पुनः संस्कार पूरी तरह से रूढ़िवादी बन गये। संस्कारों की वास्तविक भावना को भुलाकर कर्मकाण्ड़ों को प्रधान मानना संस्कार के लिए हानिकारक हो गया। इसके पश्चात् अशिक्षा और अज्ञानता की निरन्तर वृद्धि और राजनीतिक कारणों से सामाजिक व्यवस्था भिन्न–भिन्न हो गयी। वस्तुतः संस्कार व्यक्तिगत परिष्कार का साधन नहीं रह गया। फलतः अधिकांश संस्कार निष्क्रिय और अनुपयोगी संस्था का रूप प्राप्त कर लिये और व्यवहार अनिवार्य आधार नहीं समझा जाता है।

संदर्भ :–
1. उद्धृत–भारतीय समाज और संस्कृति, पृ. 84–85
2. वीर मित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग–1, पृ. 132
3. उद्धृत–भारतीय समाज तथा संस्कृति, पृ. 76–77
4. मनुस्मृति, 2/7, 28
5. याज्ञवल्क्य स्मृति, 2/13
6. वही, श्लोक 13 की टीका
7. संस्कार तत्त्व, पृ. 857
8. भारतीय सामाजिक जीवन, पृ. 92
9. आपस्तम्ब सूल, आ0ध0सू0, 1/1/16–18
10. परासर स्मृति, 8/19
11. सोशल ऑर्डर, पृ. 137
12. मीमांसा सूत्र, 3/1/83
13. कर्मकाण्ड भास्कर, संस्कार प्रकरण
14. शांख्यायन गृह्य सूत्र, 1/14/15
15. हिन्दू संस्कार, पृ. 39
16. वही, पृ. 139
17. वीर मित्रोदय संस्कार, भाग, पृ. 139

***

जल प्रदूषण समस्या एवं समाधान : एक भौगोलिक अध्ययन

आशीष कुमार शुक्ल
(शोध छात्र–NET/JRF)
भूगोल विभाग
नेहरू ग्राम भारती मानित विश्वविद्यालय
कोटवाँ–जमुनीपुर, प्रयागराज

ABSTRACT

जल संसार के समस्त प्राणियों एवं वनस्पतियों के जीवन का मूलाधार है। जल के अभाव में किसी भी प्रकार के जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस यथार्थ सत्य के सापेक्ष हमने अपने शोध–पत्र का शीर्षक ''जल–प्रदूषण की समस्या एवं समाधान : एक भौगोलिक अध्ययन'' रखा है। इसके अन्तर्गत जल–प्रदूषण की संकल्पना व्यक्त करते हुए भारत एवं विश्व की विभिन्न संस्थाओं द्वारा किए जा रहे विभिन्न प्रयासों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। शोध–पत्र में इस बात का भी विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है कि जल–प्रदूषण की समस्या के निवारण हेतु विश्व के प्रत्येक देशों, संस्थाओं एवं लोगों की क्या भूमिका होनी चाहिए।

मानव सभ्यता के इतिहास में प्रकृति ने हम सबको अनेक उपहार दिये है जिसमें जल सबसे महत्वपूर्ण है, क्योंकि बिना जल के किसी भी प्रकार के जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है, यही कारण है कि विद्वानों का अभिमत जल ही जीवन है, अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं दूरदर्शी है। मनुष्य शनैः शनैः अपने ज्ञान–विज्ञान के विकास के साथ–साथ जीवन स्तर के संदर्भ में नित नये तकनीकी विकास करता रहता है। परिणामतः वह अपना भौतिक जीवन तो सुखमय बनाया है, परन्तु प्रकृति के बहुमूल्य तत्त्वों को दूषित भी किया है जिसमें जल एक प्रमुख तत्व है। अब यदि वैश्विक संदर्भ में जल प्रदूषण की समस्या एवं

समाधान पर भौगोलिक दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रदूषण के स्वरूप को जल–प्रदूषण के संदर्भ में देखना आवश्यक है।

प्रदूषण का अर्थ मानव सदैव ही पर्यावरण से जोड़कर देखता है। सामान्यतः प्रदूषण पर्यावरण के प्राकृतिक संगठन में दूषक पदार्थों के प्रवेश के कारण होने वाले असंतुलन को कहा जाता है। इस सम्बन्ध में पर्यावरण प्रदूषण की निम्न परिभाषायें विवेचनीय है।[1]

1. ैन। के राष्ट्रपति की विज्ञान सलाहकार समिति ने प्रदूषण के निम्न रूप से परिभाषित किया है –

''मनुष्य के कार्यों द्वारा ऊर्जा–प्रारूप, विकिरण प्रारूप, भौतिक एवं रासायनिक संगठन तथा जीवों की बहुलता में किये गये परिवर्तनों से उत्पन्न प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभावों के कारण आस–पास के पर्यावरण में अवांक्षित एवं प्रतिकूल परिवर्तन को प्रदूषण कहते हैं।

2. क्ण्डण क्पगवद ;1972द्ध के अनुसार 'प्रदूषण के अन्तर्गत मनुष्य एवं उसके पालतू मवेशियों के उन इच्छित एवं अनिच्छित कार्यों तथा उनसे उत्पन्न प्रभावों एवं परिणामों को सम्मिलित किया जाता है जो मनुष्य को अपने पर्यावरण से आनन्द एवं पूर्ण लाभ प्राप्त करने की उसकी क्षमता को कम करते हैं।

3. लार्ड केनेट के अनुसार पर्यावरण में उन तत्वों का ऊर्जा उपस्थिति को प्रदूषण कहते हैं जो मनुष्य द्वारा अनचाहे उत्पादित किये गये हो, जिनके उत्पादन का उद्देश्य अब समाप्त हो गया हो, जो अचानक बच निकले हो या जिनका मनुष्य के स्वास्थ्य पर अकथनीय हानिकारक प्रभाव पड़ता हो।''[2]

4. त्ण्ण् केंउंद ;1975द्ध के अनुसार उस दशा या स्थिति को प्रदूषण कहते हैं जब मानव द्वारा पर्यावरण में विभिन्न तत्वों अथवा ऊर्जा का इतना अधिक मात्रा में संग्रह हो जाता है कि वे पारिस्थितिक तंत्र द्वारा आत्मसात करने की क्षमता से अधिक हो जाते हैं।

उल्लिखित परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि प्रदूषण के तीन प्रमुख स्तम्भ है–

;पद्ध मानव क्रियाओं द्वारा उत्पन्न अपशिष्ट पदार्थ तथा उनकी निपटान ;क्पेचवेमकद्ध

;पपद्ध प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से अपशिष्ट पदार्थों के निपटान से उत्पन्न क्षति एवं हानि तथा

;पपपद्ध इस क्षति का लोगों पर प्रभाव

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि पर्यावरण प्रदूषण मनुष्य के इच्छित एवं अनिच्छित कार्यों का ही परिणाम होता है। यह घातक तब हो जाता है जब मानव द्वारा किये गये कार्यों का प्रकृति संतुलन बनाने में असमर्थ हो जाती है।

जल ईश्वर द्वारा प्रदत्त सबसे अनमोल उपहार है। संसार के समस्त जीवों का आधार जल ही है। यद्यपि पृथ्वी पर अनेक तत्व हैं जो जीव के अस्तित्व के लिए आवश्यक है परन्तु उनमें जल सबसे प्रमुख तत्वों में एक है। मानव सभ्यता के विकास के साथ–साथ जल की उपयोगिता में लगातार इजाफा हुआ है। वैज्ञानिक विवेचना के अनुसार सभी जीवों में पाये जाने वाले तत्वों की तुलना में जल की मात्रा सर्वाधिक होती है। मानव अपने विकास के साथ जल के अनेक उपयोग तो ज्ञात कर लिए लेकिन इस अधांधुन्ध विकास की दौड़ में जल की गुणवत्ता लगातार गिरती गयी। यदि मात्रात्मक रूप से देखा जाय तो जल पृथ्वी पर लगभग 71: है लेकिन मानव के उपयोग करने योग्य जल 2: से भी कम है। मानव के उपयोग योग्य जल के प्रमुख स्रोतों में भूमिगत जल, सरिता जल, झील–जल, मृदा में स्थित जल, वायुमण्डलीय जल, हिम ग्लेशियर के पिघलने से उत्पन्न जल आदि। मानव सभ्यता के विकास के साथ औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं मानव जनसंख्या की तीव्र वृद्धि ने जल की आवश्यकता को और बढ़ा दिया। जिससे जल की गुणवत्ता में भी लगातार गिरावट देखी जा रही है। यद्यपि जल में स्वयं शुद्धीकरण की क्षमता होती है किन्तु ये कारक अब इतने बढ़ गये हैं कि जल स्वयं शुद्धीकरण नहीं कर पा रहा है जिससे लगातार जल प्रदूषित होता जा रहा है।

च्च टपअपमत ;1958द्ध के अनुसार 'प्राकृतिक या मानव जनित कारणों से जल की गुणवत्ता में ऐसे परिवर्तनों को प्रदूषण कहा जाता है जो आहार, मानवों एवं जानवरों के स्वास्थ्य, कृषि, मत्स्यन या आमोद–प्रमोद के लिए अनुपयुक्त या खतरनाक होते हैं।

ब्प्ण् ैवनजीपबा ;1976द्ध के अनुसार 'मानव–क्रियाकलापों या प्राकृतिक (जलीय) प्रक्रियाओं के द्वारा जल के रासायनिक, भौतिक तथा जैविक गुणों में परिवर्तन को जल प्रदूषण कहते हैं।'[3]

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट होता है कि विभिन्न स्रोतों एवं भण्डारों के जल के भौतिक, रासायनिक तथा जीवीय विशेषताओं में प्राकृतिक तथा मानव–जनित प्रक्रियाओं एवं कारणों से उस सीमा तक अवनयन एवं गिरावट को जल–प्रदूषण कहते हैं कि इस तरह प्रदूषित जल मनुष्य समुदाय, जन्तु एवं पादप समुदायों के लिए अवास्थ्यकर तथा हानिकारक हो जाता है।

जल की गुणवत्ता कम करने वाले तत्वों को जल–प्रदूषक कहते हैं। जल प्रदूषक के विभिन्न स्रोत हैं।[4]

जल–प्रदूषण के स्रोत में औद्योगिकरण प्रमुख स्रोत है। विश्व के सभी देश अपने विकास को तीव्र औद्योगिकरण द्वारा गति देने में लगे हैं परन्तु उसके दुष्प्रभाव पर ध्यान नहीं दे रहे हैं। औद्योगिक अपशिष्ट रासायनिक प्रदूषक यथा–क्लोराइड, सल्फाइड कार्बोनेट, अमोनिकल नाइट्रोजन, नाइट्राइट्स नाइट्रेट आदि। भारी धात्विक पदार्थ, जैसे–पारा, सीसा, जस्ता, ताँबा, कार्बनिक रासायनिक यौगिक, रेडियोएक्टिव अपशिष्ट आदि।

कृषि जात प्रदूषक के अन्तर्गत खेतों में उपयोग की जाने वाले रासायनिक तत्वों का है। सभी देश फसल उत्पादकता को बढ़ावा देने के लिए रासायनिक उर्वरकों का असीमित प्रयोग कर रहे हैं। इन उर्वरकों में कवकनाशी, शाकनाशी, कीटनाशी, जीवाणुनाशी तथा पौधे के अवशिष्ट–भाग आदि। नगरीय प्रदूषकों के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के आयन जैसे–सल्फेट आयन, नाइट्रेट आयन (नगरों के स्वचालित वाहनों तथा अन्य रूपों में जीवाश्म ईंधनों के दहन से उत्सर्जित वायु प्रदूषकों के वर्षा के जल द्वारा घुलन से उत्पन्न), क्लोराइड

तथा सोडियम आयन (सड़कों पर हिम को पिघलाने के लिए नमक के प्रयोग से उत्पन्न) कैल्शियम तथा बाइकार्बोनेट आयन (नगर में स्थित उद्यानों में प्रयुक्त चूना एवं रासायनिक उर्वरकों से उत्पन्न), सल्फेट नाइट्रेट तथा पोटैशियम आयन, नगरीय सीवेज जल में स्थित कई प्रकार के रासायनिक आयन मनुष्य एवं जानवरों के मृत शरीरों से उत्पन्न फास्फेट तथा नाइट्रेट आयन आदि।

जल प्रदूषण के स्रोत में प्राकृतिक स्रोत भी है। जिसमें ज्वालामुखी राख तथा धूल, अपक्षय तथा अपरदन से उत्पन्न अवसाद, भूस्खलन से उत्पन्न मलवा, विघटित एवं वियोजित जैविक पदार्थ आदि जल प्रदूषण के ये प्राकृतिक स्रोत तो मानव सभ्यता के विकास के साथ ही थे। लेकिन इन प्राकृतिक प्रदूषकों को प्रकृति अपने स्तर से ही सन्तुलित कर लेती है। मानव जनित जल–प्रदूषण के स्रोत ही जल–प्रदूषण के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी है।[5]

जल प्रदूषण के कारण चराचर जगत् के जीव–जन्तु व पौधों पर अकथनीय प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। जल प्रदूषण का सबसे अधिक प्रभाव मनुष्य तथा सूक्ष्म जीव–जन्तु पर पड़ा है। प्रदूषित जल के कारण संक्रामक रोगों तथा कई प्रकार के खतरनाक रोगों जैसे–हैजा, तपेदिक, पीलिया, अतिसार, मियादी ज्वर, पैराटाइफाइड, पेचिस आदि का आविर्भाव होता है। ठोस प्रदूषकों से युक्त जल का सेवन करने से कई प्राणघातक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। उदाहरणस्वरूप एसबेस्टस के रेशों से युक्त जल के सेवन से एसबेस्टोसिस (फेफड़े के कैंसर का एक रूप) नामक जानलेवा रोग हो जाता है। पारायुक्त जल पीने से मिनामाता रोग उत्पन्न हो जाता है। ध्यातव्य है कि 1956 ई0 में पारायुक्त मछलियों के सेवन से जापान में इस रोग के कारण अनेकों मौत हो गयी थी। अपशिष्ट जल में उपस्थित पारा मिश्रण, सूक्ष्म जैविक क्रियाओं द्वारा अत्यन्त विषैले पदार्थ, मिथाइल पारा में परिवर्तित हो जाता है जिसमें कई अंग होंठ, जीभ आदि में शून्यता, बहरापन, आँखों का धुधलापन एवं मानसिक असंतुलन जैसी बीमारियां होती हैं।[6]

पेयजल में नाइट्रेट की अधिकता से ब्लू बेबी सिण्ड्रोम, कैडमियम की अधिकता से ईटाई–ईटाई रोग जिससे हड्डियों एवं जोड़ों में तीव्र दर्द होता है।

फ्लोराइट की अधिकता से फ्लोरोसिस (जिससे दाँत एवं हड्डियां कमजोर हो जाती हैं) तथा आर्सेनिक की अधिकता से ब्लैक फुट नामक बीमारी हो जाती है। सीसायुक्त जल के प्रयोग से एनीमिया, सिरदर्द, मांसपेशियों की कमजोरी तथा मसूड़ों में नीलापन आदि प्रभाव दिखाई देता है।

विषाक्त रसायनों से प्रदूषित जल के कारण जलीय पौधों तथा जन्तुओं की मृत्यु हो जाती है। प्रदूषित जल में घूलित आक्सीजन की मात्रा कम होती है। जिससे संवेदी जीवों यथा प्लवक मोलस्क तथा कुछ मछलियों की मृत्यु हो जाती है। यद्यपि कुछ सहनशील प्रजातियों यथा एनेलीड तथा कुछ कीट कम आक्सीजनन में ही जीवित रह जाते हैं। ऐसे जीवों को प्रदूषित जल की सूचक प्रजातियों के रूप में जाना जाता है। जैवनाशक, पालीक्लोरीनेटेड बाईफिनाइल्स और भारी धातुएँ जैसे–सीसा कैडमियम, ताँबा, चाँदी आदि जीवों की विभिन्न प्रजातियों को सीधे ही नष्ट कर देते हैं। नदियों, झीलों, तालाबों के प्रदूषित जल के द्वारा सिंचाई करने से फसलें नष्ट हो जाती है। अत्यधिक प्रदूषित जल के कारण मृदा भी प्रदूषित हो जाती है, उनकी उर्वरता घट जाती है तथा उपयोगी मृदावासी सूक्ष्म जीव यथा–बैक्टीरिया नेमोटोड तथा केंचुवा आदि मर जाते हैं। रेत के अत्यधिक भार से युक्त जल से फसलों की सिंचाई करने से मिट्टियों में रेत का अनुपात बढ़ जाता है जिस कारण मिट्टियों की उत्पादकता घट जाती है तथा उनकी जल की मांग बढ़ जाती हैं। अधिक लवणता वाले जल से सिंचाई करने पर मृदा में क्षारीयता बढ़ जाती है। नदियों, झीलों तथा तालाबों के जल में अजैविक तथा जैविक पोषक तत्वों के सान्द्रण में वृद्धि होने पर यूट्रीफिकेशन या सुपोषण हो जाता है जिस कारण जलीय भागों में पौधों तथा जन्तुओं की संख्या में नियंत्रण सीमा से भी अधिक वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत जल में विषाक्त रसायनों तथा भारी धात्विक पदार्थों के सान्द्रण में वृद्धि होने से पौधे एवं जन्तु विनष्ट हो जाते हैं। सागर के तटवर्ती जलीय भाग में खनिज तेल के रिसाव से उत्पन्न आयल स्पिल्स तथा कारखानों से विषाक्त अपशिष्टों के विसर्जन के कारण अधिकांश सागरीय जीव मर जाते हैं, जिस कारण पारिस्थितिकीय विनाश की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।[7]

जल प्रदूषण के रोकथाम के लिए कई निवारक उपायों की आवश्यकता होती है। इस प्रदूषण के निवारक उपायों की सफलता के लिए व्यक्ति, समाज, सामाजिक संगठन, स्वयंसेवी संस्थाओं तथा राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सरकारी सहायता अत्यन्त आवश्यक है। सामान्य जल को जल प्रदूषण के प्रति जागरूक करना तथा उसके प्रभाव से परिचित कराना आवश्यक है। जन समुदाय में जल प्रदूषण के विभिन्न पक्षों तथा जन जागरण कराना होगा तथा जल प्रदूषण का सही बोध कराना होगा। इसी प्रकार आम व्यक्तियों के घर से निकले कचरे को निर्धारित स्थान के अलावा अन्यत्र न फेंकने के लिए राजी करना होगा। सरकार को औद्योगिक इकाइयों को इस बात के लिए मजबूर किया जाना चाहिए कि वे कारखानों से निकले अपशिष्टों एवं मल जल को बिना शोधित किए नदियों, झीलों या तालाबों में विसर्जित न करें। नगरपालिकाओं को सीवर शोधन संयंत्रों की व्यवस्था करनी चाहिए तथा सम्बन्धित सरकार को प्रदूषण नियंत्रण योजनाओं के सफलतापूर्वक कार्यान्वयन के लिए आवश्यक धन एवं अन्य संसाधन प्रदान करना चाहिए। इसके अलावा सरकार को जल प्रदूषण के नियंत्रण से सम्बन्धित उपयोगी एवं कारगर नियम एवं कानून भी बनाना चाहिए। व्यक्तियों, समुदायों, सामाजिक संगठनों, व्यापारिक प्रतिष्ठानों, कर्मचारियों, सरकारी अधिकारियों तथा मिल मालिकों को इन नियम एवं कानूनों का सख्ती से पालन करना होगा। इन नियमों एवं कानूनों का उल्लंन करने वाले को सख्त सजा एवं भारी आर्थिक दण्ड लगाना चाहिए।

शहरी क्षेत्र के घरेलू सीवेज में लगभग 99ण्9: जल तथा 0ण्1: प्रदूषण होते हैं। इनके 90: से अधिक प्रदूषकों को 'केन्द्रीकृत सीवेज ट्रीटमेंट प्लांट' द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है।[8]

कृषि क्षेत्र में अपरदन नियंत्रण प्रणालियों का प्रयोग कर जल प्रवाह की तीव्रता को कम किया जा सकता है। साथ ही किसानों की आवश्यकता से अधिक उर्वरकों व कीटनाशकों का प्रयोग न करने तथा जैव उर्वरकों एवं जैव कीटनाशकों के प्रयोग हेतु प्रेरित किया जा सकता है।

ज्ञातव्य है कि भारत सरकार ने जल प्रदूषण रोकने के लिए पहले से ही कदम उठाया है। सन् 1974 में सरकार ने जल प्रदूषण नियंत्रण अधिनियम को पारित करके जल प्रदूषण की रोकथाम के लिए पहल किया था, जिसे 1988 में संशोशित किया गया। इस अधिनियम का सर्वप्रमुख उद्देश्य है। मानव उपयोग के लिए जल की गुणवत्ता बनाये रखना। इस अधिनियम के तहत 'केन्द्रीय जल प्रदूषण' बोर्ड तथा राज्य जल प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड को जल प्रदूषण के नियंत्रण व रोकथाम हेतु विभिन्न अधिकार व दायित्व का प्रावधान किया गया है–यथा

केन्द्रीय जल प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड का कार्य

1. जल प्रदूषण के सम्बन्ध में केन्द्र सरकार को सलाह देना।
2. राज्य जल बोर्ड को प्रदूषण की जाँच व अनुसंधान कार्य में सहायता देना।
3. जल प्रदूषण विशेषज्ञों को ट्रेनिंग देना व आम जनता को जल प्रदूषण सम्बन्धी जानकारी देना।
4. सरकार के साथ मिलकर जल प्रदूषकों का मानक निर्धारित करना तथा समय–समय पर पुनरीक्षित करना।
5. जल प्रदूषण नियंत्रण हेतु देशव्यापी कार्यक्रम संचालित करना।[9]

राज्य जल प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड द्वारा किये गये कार्य निम्नलिखित हैं:–

1. जल प्रदूषण के सम्बन्ध में राज्य सरकार को सलाह देना तथा राज्य स्तर पर जल प्रदूषण सम्बन्धी सूचनायें एकत्र व प्रकाशित करना।
2. जल प्रदूषण नियंत्रण हेतु अनुसंधान करना तथा केन्द्रीय बोर्ड को विशेषज्ञों के प्रशिक्षण में सहायता देना।
3. जल प्रदूषण के मानक निर्धारित करना तथा पुनरीक्षित करना।
4. सीवेज तथा उत्सर्ग उपचार के उचित तरीके ज्ञात करना तथा उसके पुर्नप्रयोग की संभावना ज्ञात करना।
5. हानिकारक उत्सर्ग छोड़ने वाले उद्योगों का पता लगाना व सरकार को इसकी जानकारी देना।

बोर्ड का कोई भी सदस्य अधिकारी या अधिकृत सदस्य किसी भी औद्योगिक परिसार में प्रवेश कर सकता है, निरीक्षण कर सकता है तथा उत्सर्जित जल का नमूना ले सकता है।[10]

भारतीय सरकार ने गंगा नदी के प्रदूषित जल को स्वच्छ करने के लिए केन्द्रीय गंगा प्राधिकरण ;ब्ब्द्ध का गठन 1985 में किया था। जिसे 1995 में नाम बदलकर राष्ट्रीय नदी संरक्षण प्राधिकरण ;छत्ब्द्ध कर दिया गया। इस योजना के अन्तर्गत वर्तमान में 19 राज्यों के 121 शहरों की 40 नदियों के प्रदूषित भाग को शामिल किया गया है।[11]

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि मानव जनित किसी भी समस्या का समाधान चाहे वह पर्यावरण प्रदूषण की समस्या हो या ग्लोबल वार्मिंग या फिर तमाम सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याएँ इन सभी का समाधान न तो अकेले राज्य कर सकता है और न ही कुछ लोगों द्वारा किया जा सकता है, इसके लिए सरकार द्वारा चलाये गए विभिन्न कार्यक्रमों के साथ–साथ जन सह–भागिता अत्यन्त आवश्यक है। अतः हम प्रत्येक मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि जल–प्रदूषण जैसी समस्या से निपटने के लिए सरकार द्वारा संचालित कार्यक्रमों में सकारात्मक सहयोग के साथ–साथ स्वतः जल संरक्षण एवं जल को दूषित न करने का मनसा, वाचा एवं कर्मणा से यथार्थ संकल्प ले तब जाकर जल प्रदूषणरूपी गम्भीर एवं वैश्विक चुनौती का सामना किया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. प्रो0 सिंह सविन्द्र, 'पर्यावरण भूगोल', प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृ0 437
2. Singh B.B., Singh A.P. ad Singh D.N., 1983 : Environmental Pollution Hazards in Caluctta Metropolitan District, in Environmental Management, edited by L.R. Singh, et at Allahabad Geographical Society, Geog. Deptt. Allahabad University, p.p. 288-299.
3. Singh L.R. Singh Savindra, Tiwari R.C. and Srivastava R.P. 1983 : Environmental Management (edited) Allahabad Geographical Society, Geog. Dept. Allahabad University, p.p. 190.
4. Singh, Savindra 1989 : Environmental Geography : Conceptenal Framework, National Geographer, Vol. 24(i), p.p. 15-27.
5. Singh, Savindra and Tiwari R.C. 1989 : Geomorphology and Environment (edited), Allahabad Geographical Society Dept. of Geog. Allahabad University, p.p. 51
6. Strahler A.N. and Strahler A.H., 1976 : Geography and Man's Environment, John Willey, New York, p.p. 96
7. Singh J and Singh D.N. 1988 : An Introduction to our Earth and Environment EDSC, Varanasi, p.p. 106
8. Singh J. 1984 : Geography and Environment : Retrospect and Prospect in Geography and Teaching of Environment, Dept. of Geog. Poona University, p.p. 13-21.
9. Thomas W.L. 1956 : Man's Role in Changing the face of th earth University of Chicago Press, p.p. 111.
10. Walling D.E. 1981 : Hydrological Processes in Man and Environmental Processes edited by k.J. Gregary and D.E. Walling, Butlerworths, p.p. 60-79.
11. Lee N. and Wood C. 1972 : Planning and Pollution, the planner, Vol. 58, p.p 153-159.

शोक-संवेदना

प्रतिष्ठान के सम्मानित सदस्य **प्रो० श्रेणी माधव शुक्ल** विश्वविख्यात रसायन वैज्ञानिक, गोरखपुर विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति तथा रूस में भारत के राजदूत, अब हमारे बीच नहीं रहें। **95** वें वर्ष की आयु पूर्ण करने के पश्चात उन्होंने **12** दिसम्बर **2020** की रात्रि **11** बजकर **45** मिनट पर अपना नश्वर शरीर त्यागकर उर्द्धयात्रा का आरम्भ किया। प्रतिष्ठान से उनका गहरा लगाव था और अनेक बार वार्षिकोत्सव के समय पधारकर अपनी, ओज और तेज से परिपूर्ण, वाणी से हम सबको चैतन्य और सक्रिय बनाया। उनके व्यक्तित्व में परोपकार अपने पूर्ण अवतार में भरा था। किसी की भी मदद करने के लिए सदैव रूचिपूर्वक तैयार रहते थे। एक समग्र व्यक्तित्व से परिपूर्ण इस महा मनीषी का परलोक गमन भारी रिक्तता छोड़ गया।

प्रतिष्ठान परिवार माँ भुवनेश्वरी से यह प्रार्थना करता है कि वे पुण्यआत्मा को उच्चतम गति प्रदान करें तथा उनके परिवार को इस महादुःख को सहने की शक्ति प्रदान करें।

प्रतिष्ठान समाचार

प्रतिष्ठान का 39वां वार्षिक अधिवेशन 30 नवम्बर 2020, कार्तिक पूर्णिमा सं0 2077 को मुख्य परिसर में आयोजित हुआ। इस वर्ष वैश्विक आपदा के कारण दूरस्थ तथा वयोवृद्ध सदस्य सम्मिलित नहीं हो सके। समारोह में स्थानीय जन समुदाय, प्रशासन के निर्देशों का पालन करते हुए, एकत्र हुए। कार्यक्रम का आरम्भ परम्परानुसार माँ भुवनेश्वरी के पूजन से हुआ।

एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसका विषय था **''कोरोना महामारी के काल में उपयुक्त आचार नियम''।** गोष्ठी की अध्यक्षता प्रतिष्ठान के उपाध्यक्ष श्री रामाश्रय तिवारी जी ने किया तथा संचालन प्रो0 जटाशंकर तिवारी ने किया। संगोष्ठी में उपस्थित सभी अतिथियों का स्वागत उपाध्यक्ष महोदय ने किया।

विषय का प्रवर्तन करते हुए प्रो0 जटाशंकर ने कहा कि वर्तमान समय में महामारी से बचाव के लिए विशेषज्ञों की सलाह तथा सरकारी आदेश इस बात पर जोर दे रहे हैं कि स्वच्छता के लिए उचित मानक का पालन, नाक और मुख–मास्क का प्रयोग तथा परस्पर दो गज की दूरी आवश्यक है। निश्चय ही इस महामारी ने अब तक सामान्य रूप से प्रचलित हमारे आहार–व्यवहार को प्रभावित किया है। ऐसी स्थिति में आगामी समय में नयी जीवन शैली अपनाने की आवश्यकता है। वह जीवनशैली कैसी हो, इस पर विचार इस संगोष्ठी के माध्यम से प्रस्तावित है।

डा0 सुनील शुक्ला ने कहा कि भारत की पारम्परिक जीवन शैली जिसमें योग, आयुर्वेद और यज्ञ प्रमुख हैं, इसे जीवन का हिस्सा बनाकर इस प्रकार की महामारियों से मुक्त हो सकते हैं। भारत के लिए यह नया नहीं है, किन्तु शेष विश्व इस ओर आकर्षित हो रहा है। इसके अनन्तर डा0 सुनील कुमार चतुर्वेदी ने कहा कि प्राचीन भारत में इस प्रकार की महामारियों की चर्चा बौद्ध साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलती है। उन्होंने तक्षशिला विश्वविद्यालय के आयुर्वेदाचार्य जीवक को सन्दर्भित करके अनेक आख्यानों की चर्चा की। संगोष्ठी में उपस्थित अन्य प्रतिभागियों में नीरज कुमार पाण्डेय तथा प्रभाकर पाण्डेय ने भाग लिया।

अपने अध्यक्षीय उद्‌बोधन में श्री रामाश्रय तिवारी जी ने सभी वक्तव्यों का समाहार करते हुए अपना आशीर्वचन प्रदान किया। अभ्यागतों के प्रति आभार व्यक्त करते हुए संगोष्ठी के समापन की घोषणा की।

सम्पादक